

मैं सत्य के समान कठोर और न्याय की तरह अटल रहूँगा। इस विषय पर मैं नरमाई से सोचना, बोलना या लिखना नहीं चाहता। नहीं! नहीं! जिसके घर में आग लगी हो, चाहे तो आराम के साथ चिल्लाने को उसे कहो, चाहे बलात्कारी के हाथों से, अपनी पत्नी को धीरज से छुड़ाने को उसके पति को कहो, माता से भले ही कहो कि आग में पड़े हुए अपने बच्चे को धीरे-धीरे बाहर निकालें, लेकिन मेरे उद्देश्य में ढील बरतने के लिए मुझ पर जोर मत डालो। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं गोलमटोल बात नहीं कहूँगा, मैं क्षमा नहीं करूँगा, तिल भर भी पीछे नहीं हटूंगा और मेरी बात सबको सुननी ही पड़ेगी।

–विलयम लॉइड गॅरिसन–लिबरेटर में से

भारत किधर

•

ठाकुरदास बंग

•

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन,
राजघाट,
वाराणसी-२२१००१

संस्करण : दूसरा
प्रतियाँ : २,०००
कुल प्रतियाँ : ५,०००

अक्तूबर, १९८२

मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक
शिवम् प्रिण्टर्स,
सी. २७/२७३, इण्डियन प्रेस कॉलोनी,
मलदहिया, वाराणसी-२

प्रकाशकीय

महात्मा गांधी ने एक सपना देखा कि स्वराज्य के बाद भारत कैसा होगा। सन् '३०-'३२ में उनके सत्याग्रही वालंटियर गाँव-गाँव अलख जगाते हुए गाते फिरा करते थे—

यह हिन्द मेरा आजाद रहे
माता के सर पर ताज रहे।
घी-दूध की नदियाँ हों बहती यहाँ।
हरसू आनन्द स्वराज रहे॥
ये किसान मेरे खुशहाल रहें,
पूरी हो फसल सुखसाज रहे।
सब हिन्दू-मुसलमां एक रहें,
भाई-भाई-सा रस्मो-रिवाज रहे॥....

स्वराज तो हुआ। देश-भक्तों की तपस्या फली। पर स्वराज्य का जो सपना उन्होंने देखा था, वह सपना कहाँ पूरा हुआ? आज की जो दयनीय स्थिति है, उसमें कौन दुःखी नहीं है? आजादी के पैंतीस सालों के बाद भी जो हालत है, उस पर किसे सन्तोष होगा?

सर्व-सेवा-संघ के अध्यक्ष श्री ठाकुरदास बंग ने अपनी यह वेदना इस पुस्तक में मुखरित की है। जूते में छेद कहाँ है, इस पर उन्होंने गम्भीरता से प्रकाश डाला है। आज महँगी और भ्रष्टाचार का जो बोलबाला है, कुर्सी और सत्ता के लिए जो छीना-झपटी है, न्याय और सत्य की जो दुर्दशा है—उसका कारण क्या है,—इस पर आपने गहराई से विचार किया है।

इतना ही नहीं, आपने आज की स्थिति के सुधार के उपाय भी सुझाये हैं और स्थान-स्थान के उदाहरण देते हुए बताया है कि अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि बहुत से लोग या बड़ी संस्थाएँ आपके साथ हों—सत्यनिष्ठ व्यक्ति अकेला भी आगे बढ़ सकता है और उसके अच्छे परिणाम निकल सकते हैं।

कितने दुर्भाग्य की बात है कि हमारे नागरिक अपने कर्तव्य की ओर ध्यान नहीं देते। चुनाव में गलत आदमियों को वोट दे आते हैं और फिर जब वे धड़ल्ले से गलत काम करते हैं तो हम अपना माथा ठोकते हैं। लोकतंत्र में लोक का कल्याण तभी सम्भव है, जब नागरिक अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हों और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सचेष्ट हों।

आज किसानों की, हरिजनों की, महिलाओं की जो दुर्दशा है, देश में व्यसन और असंयम की जो बाढ़ आ गयी है, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में जो गन्दगी आ गयी है, उसे दूर करने के लिए जब तक देश के सभी नागरिक कृतसंकल्प न होंगे, तब तक देश का कल्याण सम्भव नहीं। विद्वान् लेखक ने हमारे त्राण के जो उपाय सुझाये हैं, उन्हें अच्छी तरह समझकर उन पर अमल करने से ही हमारी और हमारे देश की स्थिति सुधर सकेगी। जो जितना कर सकता है, वह उतना तो करे। यदि हम इसमें उपेक्षा बरतेंगे तो स्थिति दिन-दिन और विषम होती चलेगी।

हमारा विश्वास है कि देश के सभी नागरिक इस पुस्तक के विचारों का चिन्तन-मनन करके अपने कर्तव्य का बोध करेंगे। सरल भाषा में होने के कारण अधिक-से-अधिक लोग इन विचारों का लाभ उठा सकते हैं।

●

आमुख

भारत किधर जा रहा है—यह सोचकर कई दिनों से मैं बेचैन था। स्वराज्य के पहले का काल मैंने देखा था। उस जमाने की कुर्बानी का एवं आकांक्षाओं का मुझे अनुभव था। उन दिनों आजाद भारत के क्या-क्या स्वप्न हमने देखे थे! पर आज देख रहे हैं महँगाई एवं भ्रष्टाचार, हरिजनों पर अत्याचार एवं महिलाओं पर बलात्कार, भीषण बेरोजगारी एवं शिक्षा-संस्थानों में उद्देश्यहीनता, नागरिक-हकों पर पाबंदियाँ एवं मानव के स्वातंत्र्य का अपहरण, पुलिस की मनमानी और क्या-क्या! इस त्रासदी से मैं दुःखी था। किसानों का प्रतिशत घटे एवं भूमिहीनों का बढ़े, गरीबों का जीवन-स्तर अनवरत गिरता चला जाय, महिलाओं की लगातार अवनति होती रहे, बहुतेरे नेता स्वार्थी एवं भ्रष्ट हो जायँ, पश्चिमी संस्कृति की अंधी नकल देशभर में शुरू हो, गायें कटती रहें एवं शराब की नदियाँ बहें, अंधों के जुलूम पर लाठी चले और विचाराधीन बंदियों का लोचन-मोचन हो, गुलाम अपनी बेड़ियों को ही आभूषण मानता चला जाय?—प्रश्न है कि क्या इस गुलामी से मुक्ति का कोई मार्ग ही नहीं है?

आज की इस दशा के कारण और निवारण पर मैंने इस पुस्तक में यथामति संक्षेप में प्रकाश डाला है। देहात के एव नगर के सामान्य पढ़े-लिखे व्यक्ति को ध्यान में रखकर मैंने यह पुस्तिका सरल भाषा में लिखने की कोशिश की है। अधिक अध्ययन के लिए मैंने संदर्भ भी अन्त में दिये हैं। इस किताब में उठाये हुए मुद्दों पर एवं सुझायी हुई दिशा पर व्यापक चर्चा एवं चिन्तन शुरू हो तो मेरा प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया, ऐसा मैं मानूँगा। किताब को लिखने में अनेक मित्रों ने सहयोग दिया है। उनका नाम-निर्देश कर मैं उनके ऋण से मुक्त नहीं होना चाहता।

गोपुरी, वर्धा

—ठाकुरदास बंग

२५-८-'८१

आगामी ५० वर्ष तक तुम लोग एकमात्र जननी, जन्मभूमि की आराधना करो। इन वर्षों में दूसरे देवताओं को भूल जाने में भी कोई हानि नहीं। इस समय तुम्हारा एकमात्र देवता है तुम्हारा राष्ट्र। तुम्हारे देशवासी ही तुम्हारे प्रथम उपास्य हैं। तुम्हारा इस समय काम है देश के गाँव-गाँव में जाकर लोगों को समझा देना कि अब और अधिक सुस्ती से बैठे रहने से काम न चलेगा। शिक्षाविहीन, धर्मविहीन, वर्तमान अवनति की बात उन्हें समझाकर कहो कि भाइयो, उठो, जागो और कितने दिन सोते रहोगे? लग जाओ! कितने दिन का है जीवन? जगत् में जब आये हो तो एक चिह्न छोड़ जाओ। नहीं तो वृक्ष, पत्थर भी तो पैदा हो रहे हैं और मर रहे हैं। इस प्रकार के जन्म और मरण की क्या कभी मनुष्य को इच्छा होती है? जाकर सभी को यह बात सुना दो—तुममें अनन्त शक्ति है। उस शक्ति को जगा लो।

—विवेकानन्द

भारत किधर

अनुक्रम



१. स्वराज्य के समय

शुभ प्रारंभ

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। आजाद भारत का सितारा दुनिया के आकाश में आजादी के समय अपने अद्वितीय तेज से चमक रहा था, क्योंकि सत्य और अहिंसा के नैतिक साधनों से उसने स्वराज्य प्राप्त किया था। इस घटना से गुलामी में पिसनेवाले अनेक एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों को पराधीनता का जुआ उतार फेंकने की प्रेरणा मिली। अगले कुछ वर्षों में ही एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्र स्वतंत्र हुए। इनकी स्वतंत्रता के लिए दुनिया में आवाज उठाकर भारत ने इनकी मदद की। अनायास ही ये राष्ट्र भारत की ओर देखने लगे। एशिया के राष्ट्रों का १९४७ में भारत में एक सम्मेलन भी हुआ था।

प्रगति की दिशा कौनसी ?

स्वराज्य तो मिला। लेकिन सवाल यह उठा कि भारत अब किस दिशा में प्रगति करे? भारत के सामने दुनिया में विख्यात इंग्लैण्ड-अमेरिका का पूँजीवादी लोकतंत्र का रास्ता था। रूस का तानाशाही साम्यवादी रास्ता था। इस देश की विशेष परिस्थिति और विश्व की समस्याओं को ख्याल में रखकर गांधीजी ने एक तीसरा रास्ता सुझाया था। स्वतंत्रता के कोई ४० साल पहले 'हिन्द स्वराज्य' नाम की अपनी पुस्तक में उन्होंने इसका विवेचन किया था।

पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने। वे आज़ाद भारत के त्यागी और लाड़ले नेता थे। परन्तु उन्हें पश्चिमी सभ्यता

का और समाजवाद का बड़ा आकर्षण था। वे मानते थे कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए गांधीजी का उपयोग था; अब भारत आधुनिक तरीके से बलशाली होगा। इसलिए उन्होंने पंचवर्षीय योजना बनाकर भारत की प्रगति का मानचित्र तैयार किया। पूँजीवाद और समाजवाद की कुछ बातों को लेकर संमिश्र अर्थव्यवस्था और लोकतंत्र की राह पर उन्होंने राष्ट्र को चलाया। उनकी मान्यता थी कि राष्ट्रीय सरकार भारत के प्रश्नों को हल करेगी और व्यक्तिगत सादगी, त्याग आदि का कोई खास मूल्य नहीं। अतः स्वराज्य-प्राप्ति के उषःकाल ही में वे अपने छोटे बँगले को छोड़कर भूतपूर्व सेनापति के भव्य और आलीशान बँगले में रहने के लिए चले गये। आजाद भारत के प्रथम मंत्रिमडल के एक मंत्री श्री जॉन मथाई ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि मंत्री बनने का जब उन्हें निमंत्रण मिला, तो उन्होंने अपना विलासी जीवन छोड़-कर सादा जीवन शुरू किया और पलंग छोड़कर नीचे गादी पर सोने लगे। लेकिन दिल्ली आकर उन्होंने अनुभव किया कि वही पुराना शान-शौकत का जमाना जारी है।

उपलब्धियाँ

भारत ने पिछले ३५ वर्षों में कुछ उपलब्धियाँ कीं।

१. **देशी राज्यों की समाप्ति :** सरदार वल्लभभाई पटेल की सूझ-बूझ के चलते स्वराज्य के पहले दो वर्षों के भीतर ही ५६५ से अधिक देशी रजवाड़े भारत में मिल गये।

२. **लोकतांत्रिक संविधान का निर्माण :** तीन साल में भारत ने गणराज्य का संविधान बनाया, जिसमें हर वयस्क-बालिग-व्यक्ति को एक मत (वोट) देने का अधिकार मिला। उसमें कहा गया कि पाँच साल में एक बार आम चुनाव होगा और जनता की सम्मति से सरकार बनेगी, नागरिक का स्वतंत्रता के कुछ मूलभूत अधिकार होंगे, गणराज्य का स्वरूप सम्प्रदायवादी नहीं होगा, वह सब धर्मों के प्रति समान आदर

रखनेवाला 'सेक्युलर' यानी असाम्प्रदायिक होगा, राष्ट्र में कानून का राज्य होगा और न्यायपालिका स्वतंत्र होगी। इस तरह का संविधान बनाकर भारत ने चलना स्वीकार किया। उस समय यूरोप और एशिया के कई देशों में तानाशाही थी, राज्य का स्वरूप साम्प्रदायिक था एवं महिलाओं को मताधिकार नहीं था, बहुत जगह आज भी ऐसा है। ऐसे अंधकार में भारत का गणराज्य का दीपक सहज ही चमक उठा।

३. तटस्थ और विश्व-शांति की पोषक विदेशी नीति : भारत की परराष्ट्र-नीति शुरू से ही विश्व-शांति की पोषक रही। संसार में दो शक्तिशाली गुट हैं। एक अमेरिका का, दूसरा रूस का। भारत ने अमेरिकी या रूसी दो गुटों में से किसीमें भी प्रवेश करना स्वीकार नहीं किया। गुलामी के खिलाफ और वर्णभेद के खिलाफ भारत ने अपनी आवाज उठायी। भारत की इस परराष्ट्र-नीति के चलते कोरिया, वियतनाम, मिस्र, इजराइल आदि कहीं भी झगड़ा होने पर भारत ने पंच-निर्णय का एवं राष्ट्रों के बीच शांति कायम रखने का काम बड़ी खूबी के साथ किया। इससे भारत का सम्मान बढ़ा और इस तरह भारत तीसरी शक्ति खड़ी करने का माध्यम बना।

४. अनाज-उत्पादन में वृद्धि : भारत कृषि-प्रधान राष्ट्र है। फिर भी आजादी के समय अनाज के बारे में भारत स्वावलम्बी नहीं था, हालाँकि अनाज की कमी दो प्रतिशत ही थी। वह अपनी आवश्यकता से २० लाख टन गल्ला कम पैदा करता था। पिछले ३४ वर्षों में भारत की जनसंख्या भी दुगुनी हो गयी है। फिर भी नयी तकनीकी के कारण भारत में अन्न का उत्पादन ढाई गुना हो गया और मोटे अनाज के मामले में भारत स्वावलंबी बन गया।

५. आधुनिक उद्योगों में प्रगति : स्वतंत्रता के समय आधुनिक औद्योगीकरण की दृष्टि से—विशेष रूप से मूलभूत उद्योगों की दृष्टि से—हिन्दुस्तान अविकसित राष्ट्र था। उस समय विज्ञान का और आधुनिक

तकनीकी का प्रारम्भ तो हो गया था, लेकिन तंत्रज्ञों की संख्या बहुत कम थी। आज भारत का संसार के औद्योगिक राष्ट्रों में आठवाँ स्थान है। तंत्रज्ञों की संख्या की दृष्टि से भारत का क्रमांक दुनिया में अमेरिका और रूस के बाद तीसरा है। भारत के तंत्रज्ञ एशिया के और अफ्रीका के राष्ट्रों में जाकर कई उद्योग खड़े कर रहे हैं। शांतिपूर्ण कार्यों के लिए पोकरण में अणु-विस्फोट करके और भास्कर, रोहिणी, ॲपल सरीखे उपग्रहों को आकाश में छोड़कर भारत अपने वैज्ञानिक विकास का दुनिया को परिचय दे रहा है। इस्पात, सीमेन्ट, बिजली, धातु-उद्योग, केमिकल—रसायन आदि में भारत का उत्पादन पिछले तीन दशकों में कई गुना बढ़ा है। रेलों, सड़कों, तंत्र विद्यालयों आदि के द्वारा भारत ने आधुनिक औद्योगीकरण का मूलभूत ढाँचा (इन्फ्रास्ट्रक्चर) खड़ा किया है।

६. आयुमान में वृद्धि : भारत में बाल-मृत्यु पहले से घटी हैं और संक्रामक रोगों में कमी हुई है। अब भारतीयों का आयुमान करीब पौने दुगुना हुआ है।

भारत की विशालता एवं विविधता

जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया में सबसे बड़ा लोकतंत्री देश भारत है। उसका क्षेत्र विशाल है। भारत का उत्तर-दक्षिण अंतर ३२१४ किलोमीटर और पूर्व-पश्चिम २९३३ किलोमीटर है। जमीन उपजाऊ है, लोग मेहनती हैं और पापभीरु हैं। संसार के सब धर्मों को माननेवाले लोग यहाँ निवास करते हैं। यहाँ आधुनिक सभ्यता की चरम सीमा पर पहुँचे हुए लोग हैं एवं अनादिकाल से चलनेवाले आदिवासी लोग भी हैं। दोनों साथ-साथ रह रहे हैं। भारत में १५ विकसित भाषाएँ हैं। यहाँ हिन्दुओं में हजारों जातियाँ हैं। जातिभेद और धर्मभेद के कारण और राष्ट्रीयता अविकसित रहने के कारण भारत ५-१० सालों में ही अपनी आजादी गँवा बैठेगा या इसके कई टुकड़े हो जायेंगे, ऐसी आजादी के समय कइयों की धारणा थी। पाकिस्तान के साथ भारत की तीन लड़ाइयाँ भी हुईं।

लेकिन इन कसौटियों में भारत विजयी रहा। आज भी यहाँ लोकतंत्र कायम है, भले ही वह औपचारिक एवं त्रुटिपूर्ण क्यों न हो, जब कि दुनिया के कई राष्ट्रों ने पिछले ३५ सालों में लोकतंत्र को छोड़ दिया है।

लेकिन इन बड़ी-बड़ी उपलब्धियों के बावजूद देश की विशालता एवं विविधता के बाद भी आज भारतीय हताश और निराश हैं। सारे प्रश्न ज्यों के त्यों खड़े हैं और प्रगति नहीं हो रही है। उलटे हमारा नैतिक ह्रास हो रहा है। हम उलटी दिशा में बढ़ रहे हैं। ऐसा क्यों लग रहा है? जिधर देखो उधर संकट ही संकट क्यों नजर आ रहा है? मोर्चा नागरिक अधिकारों का हो या जनसंख्या-वृद्धि का, गरीबी-बेरोजगारी घटाने का हो या भ्रष्टाचार का, शिक्षा की समस्या लीजिये या शराबबन्दी को, महँगाई का प्रश्न लीजिये या विदेशी मुद्रा का, हरिजन-आदिवासी की उन्नति का सवाल लीजिये या साम्प्रदायिक दंगों का, महिलाओं की दशा लीजिये या असुरक्षा की हालत पर दृष्टि डालिये—भारत आज संकट में क्यों है? सामान्य भारतीय आज क्यों सोया-सोया-सा नजर आ रहा है? इन सवालों को समझना और इनके जवाब पाना जरूरी हो गया है। ●

२. आज की स्थिति

राजनीतिक एवं आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण

भारत आज किंकर्तव्यविमूढ है। भारत ने कल्याणकारी राज्य का रास्ता पकड़ा। राज्य सबका भला करेगा, इसलिए शक्तिशाली राज्य निर्माण करना जरूरी है, यह विचार पनपा। अतः सत्ता का केन्द्रीकरण किया गया। सभी राजनीतिक दलों ने चुनाव के दौरान डंके की चोट पर

मतदाताओं से कहा कि हमें मत देकर सत्ता में भेजो, राज्य-सत्ता के द्वारा हम गरीबी और विषमता हटायेंगे और सारा दुख-दर्द दूर करेंगे। सत्ता के द्वारा ही यह किया जा सकता है, इस कारण केन्द्रीकरण अपरिहार्य हो गया। ऐसा हो जाने से पंचायतों के अधिकार बदलना जरूरी नहीं रहा; पहले भी उन्हें नाममात्र के ही अधिकार थे। गांधी ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण का और स्वायत्त ग्राम-राज्यों का मार्ग भारत को बताया था, लेकिन सत्ता हाथ में पाकर यह मार्ग भारत ने छोड़ दिया। इस्पात, बिजली, सीमेन्ट, तेल, उर्वरक, परिवहन, बीमा, बैंकिंग सरीखे मूलभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण यानी सरकारीकरण किया गया। खानगी उद्योगों की तुलना में सार्वजनिक उद्योग महत्त्वपूर्ण हो गये। रूस की भाँति पंचवर्षीय योजनाएँ बनायी गयीं। हमें समाजवादी भारत बनाना है—यही पंचवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य बना। इस प्रकार राज्य-तंत्र में इंग्लैण्ड, अमेरिका के लोकतंत्र को एवं प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण द्वारा रूस के समाजवाद की खिचड़ी पकायी गयी। कुछ उद्योग खानगी रखकर उसे मिश्रित अर्थव्यवस्था का नाम दिया गया। खानगी उद्योगों का भी केन्द्रीकरण थोड़े से उद्योगपतियों के पास होने दिया गया। दोनों पद्धतियों में पूंजी-बहुल केन्द्रित तंत्र समान मुद्दा है। अतः दोनों की उत्पादन-पद्धति में कोई फर्क नहीं। उत्पादन हो जाने पर वितरण-व्यवस्था में फर्क आता है।

विकास के साथ-साथ गरीबी बढ़ी

मिश्रित अर्थव्यवस्था का परिणाम सामने है। उसके चलते राष्ट्र की सम्पत्ति तो बढ़ी, लेकिन न गाँवों की, न सामान्य नगरवासी की गरीबी मिटी और न विषमता ही घटी। नगरों में भीमकाय यंत्रों के द्वारा होनेवाले उत्पादन की प्रतियोगिता में छोटे-छोटे औजारों द्वारा होनेवाला ग्रामीण उद्योगों का उत्पादन कहाँ तक टिकता? अतएव बेरोजगारी बढ़ी। शिक्षा-पद्धति में मूलगामी परिवर्तन न होने से शिक्षितों में भी बेरोजगारी बढ़ी। जीवनमान ऊँचा करने की होड़ शुरू हुई। सबको इस

होड़ में विजयी होना संभव नहीं था। अतः लोगों का बहुत बड़ा भाग इस होड़ में हार गया।

नागरिक गुलाम बना

सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण और कृषि में और उद्योग में नयी तकनीकी के कारण भारत का नागरिक गुलाम हो गया। केन्द्रित राज-नीति और अर्थनीति की पेचीदगियाँ उसकी समझ के बाहर थीं। वे उसकी पहुँच के भी बाहर थीं। उसका अपना ग्रामस्वराज्य का और स्वयंपूर्णता के लिए आर्थिक उत्पादन का पुराना ढाँचा तोड़ डाला गया।

भ्रष्टाचार में वृद्धि

आधुनिक शिक्षा ने अंधविश्वासों पर जहाँ प्रहार किया, वहीं उसके साथ-साथ धर्म और नीति पर का विश्वास भी हिला दिया था। नेताओं ने अपने जीवन में नैतिक मूल्यों को प्राथमिकता नहीं दी और सचाई, ईमानदारी, सादगी, त्याग, ये गुण भूतकाल के हो गये,—यह हमने अपनी आँखों देखा। अतः भ्रष्टाचार की महानदी पूरे वेग से सारे देश में बहने लगी।

राष्ट्रीयता टूटी, संकुचितता बढ़ी

नित कहीं-न-कहीं होनेवाले चुनावों ने और सत्ता-प्राप्ति की आपा-धापी ने कितने त्याग और कितनी तपस्या से बनी हमारी राष्ट्रीयता की भावना को खण्ड-खण्ड और तहस-नहस कर दिया। संकुचित क्षेत्रवाद, जातीयता एवं पार्टीबाजी ने उसकी जगह ले ली। पार्टी में भी एक को देवता बनाने की और उसे ही राष्ट्र मानने की प्रक्रिया शुरू हो गयी। इस चतुर्मुखी फिसलन के साथ जो जोड़ बिठा सके, वे निहाल हो गये। दूसरे अधिकांश लोग किनारे पर ही पड़े रह गये।

आत्मपरीक्षण

इन ३५ वर्षों में कभी-कभार आत्मपरीक्षण भी हुआ। प्रधानमंत्री नेहरू ने ११ दिसम्बर १९६३ को लोकसभा में कहा कि "बेरोजगारी के सवाल को हम बड़े उद्योगों द्वारा हल नहीं कर सके। हम अगर गांधी के रास्ते पर चलते तो शायद ठीक होता।" पिछले पाँच-सात वर्षों से कई विशेषज्ञ ओर विद्वान् ऐसी बात मानने और कहने लगे हैं। सन् १९६३ में नेहरूजी थक चुके थे। फिर गांधी को आंशिक रूप में अपनाया जाना सम्भव भी नहीं है। उनके विचार को समग्र रूप में ही अपनाया जा सकता है। नेहरूजी के बाद श्री लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधान-मंत्री हुए। लेकिन वे बहुत कम दिनों तक जीवित रहे। फिर आयीं इन्दिरा गांधी; वे भी गरीबी हटाने में अभी तक सफल नहीं हुईं। सन् १९७७ में जनता सरकार ने कुछ बातों में गांधी-मार्ग की ओर लौटने का प्रयत्न किया; लेकिन मंत्रिमण्डल के लोगों में आपस में सबका इस बारे में पूर्ण मतैक्य न होने से और उनके आपसी झगड़ों से यह सरकार ही उखड़ गयी।

किसी भी पद्धति का अपना एक तर्क होता है और गति होती है। सन् १९४७ में अपनायी गयी राजनीति एवं अर्थनीति के केन्द्रीकरण की दिशा में देश काफी आगे बढ़ गया है। अब इधर-उधर विकेन्द्रीकरण के थिगले लगाने से काम नहीं चलेगा। परिस्थिति में से उबरने के नरम विकल्प अब समाप्त हो गये हैं। स्थिति की इस भयानकता को हमें ठीक से समझना होगा और उसका तटस्थ निर्मम विश्लेषण करना होगा। तभी कोई रास्ता सूझ सकेगा। उस रास्ते पर मूलगामी निर्णय लेने होंगे और उन पर दृढ़ता से अमल करना होगा। अतः जीवन के विभिन्न अंगों में जो परिस्थिति बनी है, उसका हम सही जायजा लें और इसके सुधार के लिए हमें क्या करना होगा, इसे अब हम देखें।

३. विकास की गलत पद्धति

गरीबी और कंगाली

आजादी के समय भारत एक गरीब राष्ट्र था। आज भी वह गरीब है। आदमी की न्यूनतम आवश्यकताओं को ख्याल में रखते हुए यदि किसीकी आमदनी देहात में प्रतिमास ६१.८० रुपये और नगर में प्रति-मास ७१.३० रुपये मासिक से कम हो तो वह व्यक्ति गरीबी की रेखा के नीचे है, ऐसा कहा जाता है। प्रतिदिन २४०० केलरी देनेवाला अनाज और कपड़ा, घर इत्यादि कम-से-कम आवश्यकताओं की कीमत लगाकर यह गरीबी की रेखा तय की गयी है। इस हिसाब से सन् १९७९ में भारत में ४८.४४ प्रतिशत यानी करीब आधी जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे थी। गरीबी का यह प्रमाण देहातों में करीब ५० प्रतिशत था और नगरों में ४८ प्रतिशत था। यानी ६८ करोड़ लोगों के भारत राष्ट्र में करीब ३३ करोड़ लोग गरीब हैं। इस संख्या में प्रतिवर्ष ५० लाख लोग बढ़ते जा रहे हैं। इनमें १० प्रतिशत यानी ६ करोड़ लोग 'गरीब' नहीं, 'कंगाल' हैं। रोज कोई ५ करोड़ व्यक्ति काम की तलाश में इधर-उधर भटकते हैं, क्योंकि उनके पास अपना कोई रोजगार नहीं है।

गरीबी और विषमता में वृद्धि

आबादी के ३० प्रतिशत नीचे के लोगों के पास सन् १९६१ में देश की कुल सम्पत्ति का केवल २.५ प्रतिशत था। दस साल बाद सन् १९७१ में वह २ प्रतिशत रह गया। दूसरी ओर सन् १९६१ में ऊपर के ३० प्रतिशत लोगों के पास सम्पत्ति का ७९ प्रतिशत था, जो १९७१ में बढ़-

कर ८२ प्रतिशत हो गया। अब नीचे के आँकड़ों को देखिये, जिससे पता लगेगा कि हमारे यहाँ आय की विषमता कैसी है—[1]

परिवारों का प्रतिशत		आय का प्रतिशत
१ ऊपर का	१ प्रतिशत	१०
२ ,,	२ ,,	१८
३ ,,	१० ,,	३४
४ नीचे के	५० ,,	२२
५ ,,	१५ ,,	४

पड़ोसी देशों से तुलना

श्रीलंका पाकिस्तान और बंगला देश भारत के पड़ोसी देश हैं। उन देशों में ऊपर के पाँच प्रतिशत लोगों की और नीचे की आधी जनता की आमदनी उन-उन देशों की राष्ट्रीय आमदनी का कितना प्रतिशत है, इसका विश्व बैंक ने अध्ययन करके ये आँकड़े निकाले हैं—

देश	ऊपर के ५ प्रतिशत की आय	नीचे के ५० प्रतिशत की आय
१ श्रीलंका	१९ प्रतिशत	२५ प्रतिशत
२ बंगलादेश	१७ ,,	२७ ,,
३ पाकिस्तान	१८ ,,	२८ ,,
४ भारत	२५ ,,	१९ ,,

आजादी के बाद पाँच पंचवर्षीय विकास-योजनाएँ बनकर पूरी हो गयीं। आज छठी योजना चल रही है। इन योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य था—सबको पूर्ण रोजगार देकर गरीबी मिटाना और विषमताएँ कम करना। विज्ञान और तकनीकी के उपयोग से राष्ट्रीय आय बढ़ी है; लेकिन गरीबी और गैर-बराबरी कम होने के बजाय उलटे पहले से ज्यादा बढ़ गयी है। आवश्यक चीजों के उपभोग की गरीबों की मात्रा घटी है।

इतनी महँगी दाल या तेल कौन गरीब पहले-जितना खा सकेगा ? पहले भी आरोग्य के लिए आवश्यक इतनी दाल या तेल गरीब नहीं खा सकते थे, जब कि दाल का भाव ५ रुपये एवं तेल का १८ रु० प्रति किलो है। निम्न आँकड़े यही कहानी कहते हैं—

प्रतिव्यक्ति उपलब्धता

	१९५०-५१	१९७७-७८	आवश्यकता
दाल	७० ग्राम प्रतिदिन	५० ग्राम प्रतिदिन	१०० ग्राम
तेल	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३८ ,,
दूध	१५० ,, ,,	११८ ,, ,,	२०० ,,
कपड़ा	१६ मीटर	१३ ५ मीटर	२५ मीटर

ऐसा क्यों हुआ ?

ऐसा क्यों हुआ ? राष्ट्र की आय बढ़ी और साथ-साथ गरीबों का प्रतिशत और गरीबों की गरीबी बढ़ी, ऐसी दर्दनाक हालत क्यों हुई ? राष्ट्रपिता ने वर्षों पहले कहा था कि दरिद्रनारायण को कितना लाभ हुआ, इस एकमेव कसौटी पर हमारे सारे कार्यक्रम और योजनाएँ जाँचनी चाहिए। उन्होंने लिखा था -“आर्थिक समानता ही अहिंसापूर्ण स्वराज्य की 'मास्टर-की' यानी (सब ताले खोलनेवाली) मुख्य चाबी है।”[२]

आजाद भारत ने समाजवाद के ध्येय को अपनाया। गरीबी मिटाना और गरीबी तथा अमीरी के बीच के फर्क को कम करना, ये समाजवाद के मुख्य तत्त्व हैं। हमने अपने संविधान में भी यही बात नीति-निर्देशक तत्त्वों में दर्ज की है। अनुच्छेद ३८ में आर्थिक न्याय का उल्लेख है। अनुच्छेद ३९ (ग) में लिखा है—“आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रीकरण न हो।”

विकास-योजना का गलत मॉडेल

ऐसा इसलिए हुआ कि हमने विकास-योजना का गलत ढाँचा या मॉडेल अपनाया। दुनिया में विकास-योजना के पूंजीवादी और साम्य-वादी, ये दो मॉडेल हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका ने पहले प्रकार से और रूस ने दूसरी पद्धति से अपना विकास किया है। दोनों में कुछ बातें समान हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि दोनों की पूंजी-बहुल केन्द्रित उत्पादन-पद्धति में कोई फर्क नहीं है। साथ ही अमेरिका एवं रूस में भारत की तुलना में ढाई गुनी से छः गुनी जमीन है और जनसंख्या आधी से एक-तिहाई है। इंग्लैण्ड को सैकड़ों सालों तक उपनिवेश एवं गुलाम देश लूटने को मिले। आज भी दक्षिण अमेरिका के बहुत से राष्ट्रों पर अमेरिका का आर्थिक साम्राज्य है। रूस के पास अन्य कम्युनिस्ट राष्ट्र हैं, जिनकी अर्थनीति वह अपने अनुकूल मोड़ सकता है। रूस ने लाखों लोगों की खेती छीनकर उन्हें काम करने के लिए साइबेरिया भेजा। चूँकि इन देशों में आदमी कम और भूमि और पूंजी काफी है, इसलिए यहाँ पूंजी-बहुल उत्पादन की पद्धति अपनायी गयी। भारत में पूंजी और जमीन कम है और जनसंख्या ज्यादा है। अतः यहाँ उत्पादन की श्रम-प्रधान पद्धति अपनाना वैज्ञानिक होता, जैसा कि चीन ने किया। वैसा न करके भारत ने पश्चिम की अंधी नकल की। बड़े आकार के उद्योगों पर, बड़े-बड़े यंत्रों द्वारा उत्पादन पर और बड़ी बड़ी नदी-घाटी-योजनाओं पर भारत ने अत्यधिक जोर दिया।

साम्यवादी मॉडेल की अधूरी नकल

विकास-योजना के तहत भारत में मूलभूत बड़े उद्योग सरकारी मालिकी के बनाये गये और रूस की नकल की गयी। रूस ने सन् १९१७ की कम्युनिस्ट क्रांति के समय पूंजीपतियों के हाथ से कल-कारखाने और बड़ी जमीनें छीन ली थीं। यानी वहाँ पंचवर्षीय योजना के पूर्व समता पर

आधारित आर्थिक ढाँचा था। भारत में वैसा नहीं था। अतः यहाँ के सरकारी उद्योगों का और नदी-घाटी-योजनाओं का लाभ पूंजीपतियों को और बड़े जमीन-मालिकों को अधिक मिला। वैसे ही उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन पर और उत्पादित सामग्री के वितरण पर और कीमतों पर रूस में सरकार का तफसीलवार पूर्ण नियंत्रण था। उसके साथ-साथ रूस की सरकार ने सबकी न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी करने की और सबको पूरा रोजगार देने की गारंटी दी थी। भारत की विकास-योजना में ऐसा कुछ नहीं किया गया।

पूँजीवादी मॉडेल की अधूरी नकल

पूंजीवादी मॉडेल में भारी उद्योगों के बजाय, जिनमें पूंजी कम लगानी पड़े—ऐसे उद्योगों का विकास, औद्योगीकरण के प्रारम्भ में किया, जिससे कि औद्योगीकरण के परिणाम यानी आर्थिक विषमता और बेरोजगारी कम होते हैं। वैसे ही सार्वजनिक वित्त-संस्था के बजाय खानगी उद्योगों पर अपने उद्योग के लिए लगनेवाली पूंजी इकट्ठा करने की जिम्मेवारी और जोखिम रहती है। इसलिए औद्योगीकरण की प्राथमिक अवस्था में विलास एवं फिजूलखर्ची पर कुछ रोक लग जाती है, जैसा कि जापान में हुआ। इसलिए आर्थिक विषमता बहुत ज्यादा होने में रुकावट आती है। वह रोजगारों की जिन्दगी में दिखाई पड़ती है। भारत की विकास-योजना ने सरकारी उद्योगों के साथ बड़े खानगी उद्योगों को संरक्षण दिया, उनके लिए पूंजी जुटाने की संस्थाएँ खोलीं और उनके लिए रेल, सड़कों, बिजली, तांत्रिक शिक्षा आदि 'इन्फ्रास्ट्रक्चर' का यानी बुनियादी ढाँचे का प्रबन्ध सरकार ने किया। अन्य राष्ट्रों में ऐसा काफी काम खानगी उद्योगों को करना पड़ा है। (लेकिन किसान को इतना संरक्षण नहीं दिया गया।) सारांश यह कि साम्यवादी एवं पूंजीवादी पद्धति के गुण भारत की विकास-योजना ने छोड़ दिये और दोनों के दोष हमारे पल्ले पड़े।

विकास बनाम गरीबी मिटाना

पूँजीवादी विकास-पद्धति में उत्पादन बढ़ाने पर जोर रहता है और ऊपर के वर्ग की तृप्ति हो जाने पर विकास के लाभ नीचे के वर्गों को मिलते चलेंगे,—ऐसा माना जाता है। इसको 'रिसने का' या 'चूने का सिद्धांत' कहते हैं। पानी ऊपर गिरा तो रिस-रिसकर नीचे तक अपने-आप चला जायगा, यही इसका अर्थ है। लेकिन अब यह अनुभव आ रहा है कि विकसित देशों में भी गरीबों के द्वीप बने हुए हैं। यह विकास की पद्धति गरीबी को इसलिए बढ़ाती है कि उसकी अवधारणा में यह बात निहित है कि विकास का मतलब है, अमीरी में वृद्धि। यह अमीरी जीवन की लागत को बढ़ाती है, जिससे चीजों के दाम बढ़ने लगते हैं। नौकरीपेशा लोगों के वेतन और प्राथमिक उत्पादन के दाम उस तुलना में नहीं बढ़ते। अतः सामान्य प्रजा और मध्यम-वर्ग गरीब होने लगता है।

जब भारत एक इकाई विकास करता है, तो पश्चिमी देश चौदह इकाईभर समृद्धि पा चुके होते हैं। विकास से पैदा होनेवाली इसी गरीबी का यह परिणाम है। पूर्वी उत्तर प्रदेश जब एक इकाई विकास करता है तो उससे कई गुना विकास पश्चिमी उत्तर प्रदेश का या कानपुर-बम्बई-कलकत्ता का हो जाता है। विश्व-बाजार में वस्तुओं के दाम इस चौदह इकाई समृद्धि से बढ़ते हैं और उस बाजार में भाग लेने को आतुर भारत हरएक इकाई विकास के बाद तेरह इकाई पिछड़ जाता है।

ऐसा क्यों होता है? इसीलिए कि विकास पर जो पैसा खर्च होता है, उसका पचास प्रतिशत तो विकास करनेवाली संस्थाएँ खुद पर ही खर्च कर देती हैं। ३० से ४० प्रतिशत यंत्र, पानी, खाद इत्यादि की खरीद के जरिये बड़े उद्योगों के पास लौट आता है। गरीब के पास बचता है १०

प्रतिशत। पर इससे उसकी दीखनेवाली आमदनी में ही वृद्धि होती है। इससे उसकी गरीबी नहीं मिटती, क्योंकि विकास-खर्च के कारण चीजों की कीमतें उसकी आमदनी के पहले ही या उसके साथ ही साथ बढ़ चुकी होती हैं। यानी यह विकास की पद्धति मुद्रा-स्फीति यानी महँगाई को जन्म देती है। कच्चे माल के उत्पादक को उसके माल का दाम कम दिया जाता है और उसीको उसका पक्का माल महँगा बेचा जाता है। इसी तरह से पूँजी इकट्ठी होती है। ऐसे शोषण के बिना पूँजी-संग्रह हो ही नहीं सकता।

परिणाम : नया वर्ग, क्षेत्रीय असंतुलन, तनाव एवं युद्ध

नियोजन के इस साम्यवादी मॉडेल से सरकार के हाथ में अमर्याद सत्ता आ जाती है और तानाशाही बढ़ती है। इसके चलते एक सुविधाधारी 'नया वर्ग' इन देशों में पैदा हुआ है। पश्चिम के पूँजीवादी समृद्ध देशों में भी गरीबी के द्वीप प्रकट हो रहे हैं, जो मिट नहीं पा रहे हैं। अपने समाज के अमीर लोगों के खातिर निरंतर कुछ लोगों को इस पद्धति में गरीब बनाते जाना पड़ेगा। ऐसा विकास खुद गरीबी फैलाता है। अतः यह निष्कर्ष जोर पकड़ता जा रहा है कि अगर आप आधुनिक विकास के कार्यक्रम उठायेंगे तो वे गरीबी दूर नहीं करेंगे; उल्टे उसे अनिवार्य रूप से बढ़ायेंगे।

यह विकास संतुलित न होने के कारण कुछ क्षेत्र अन्य क्षेत्रों के मुकाबले अधिक समृद्ध होने लगते हैं। अपने देश में पंजाब और बिहार की तुलना कीजिये। यह विकास-पद्धति देहातों की अनेक मूलभूत कई शतकों के दौरान विकसित पुरातन सामाजिक एवं आर्थिक प्रणालियों को नष्ट कर देती है, पर उसके स्थान पर किसी नये समाज का निर्माण नहीं करती। यह विकास-पद्धति महाकाय नगरों को जन्म देती है। इन सबके परिणामस्वरूप तनाव, संघर्ष एवं हिंसा की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं।

यह बात सारी दुनिया में हुई है। पिछले ४० सालों में पश्चिमी जगत् में युद्ध नहीं हुए। वे तीसरी दुनिया में यानी विकासशील देशों में ही हुए हैं। जो राष्ट्र हथियार बनाते हैं, उनमें लड़ाइयाँ नहीं हुईं। जो लोग हथियार नहीं बनाते, उनमें लड़ाइयाँ हुईं, क्योंकि हथियार बनानेवाले देशों को अपने हथियार बेचने जो हैं। इस मॉडेल से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का जन्म होता है और वे सारी दुनिया की सामान्य प्रजा का और तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को लूटती हैं।

महात्मा गांधी ने बीजरूप में यह सब देखा और उस पर सोचा था। उन्होंने अपनी आंतरिक सूझ-बूझ से विकास की बात नहीं की; गरीबी दूर करने की और सामाजिक, आर्थिक विषमता मिटाने की बात की। गरीबी मिटाना और विषमता हटाना–ये दो तथ्य एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। लेकिन सरकार नेहरू के हाथ में थी, जिनका आधुनिक विकास में अटूट विश्वास था। गांधी की बात को सही बतानेवाले कुछ आँकड़े भी अब मिले हैं। सन् १८०० के आसपास बिहार में एक मजदूर को एक दिन का छः किलो चावल मिलता था, जो आज के बाजार-भाव से १८ रुपये कीमत का होता है। एक परिवार में दो-तीन आदमी कमाते थे और रोजी तीस रुपये से पचास रुपये तक कमा सकते थे।[3] इतनी कमाई हो तो क्या कोई गरीब रहेगा ?

यह मॉडेल दुनियाभर में लागू करना असंभव

एक बात और। सारी दुनिया को विकास के पश्चिमी स्तर पर लाया भी नहीं जा सकता। अमेरिका की समृद्धि को इस विकास का प्रतिमान मानें तो हम देखेंगे कि दुनिया के ५५ फीसदी साधन उस देश के ४ फीसदी लोगों पर खर्च हो रहे हैं और तब कहीं वे इस अमीरी तक पहुँच पाये हैं। प्राकृतिक साधन तेजी से खर्च होते हैं। उसी देश के ६० प्रतिशत लोगों को दुनिया के साधनों का १० प्रतिशत मिल रहा है। दूसरी

ओर दुनिया की ७० प्रतिशत आबादी को दुनिया के कुल साधनों के १० प्रतिशत से भी कम मिल रहा है। अमेरिका की अमीरी के इतने साधन सारी दुनिया में है ही नहीं।[४] इस अमीरी की जरूरत भी नहीं है। जब नीम की या बबूल की ताजी दातून दाँत साफ करने के लिए मिल सकती है तो कोलिनास या फोरहेन्स टुथ पेस्ट की क्या जरूरत? और वह विकास का मानक क्यों बने? कोलिनास का उपयोग करते ही आदमी आधुनिक विकास के दायरे में आ जाता है, भले ही रहन-सहन की मूल सुविधाएँ वह तेजी से खोता जा रहा हो।

भ्रष्टाचार की गंगोत्री

विकास की इस पद्धति ने देश में गरीबी बढ़ायी है, विषमता बढ़ायी है और महँगाई के साथ-साथ भ्रष्टाचार को बड़े पैमाने पर बढ़ाया है। वैसे भी जब योजनाएँ ऊपर से बनायी जाती हैं और योजना के बनाने में और उस पर अमल करने में लोगों की भागीदारी नहीं होती तो इसके अलावा और होता भी क्या? आज भ्रष्टाचार के छोटे प्रसंगों पर हम चिढ़ते हैं, लेकिन भ्रष्टाचार की गंगोत्री आज की खर्चीली चुनाव-पद्धति में जन्म ले चुकी है। यानी यहाँ अर्थनीति राजनीति को प्रभावित करती है और राजनीति अर्थनीति को। भ्रष्टाचार को जड़मूल से नष्ट किये बिना, कम-से-कम काफी कम किये बिना, गरीबी मिटाने का कोई प्रयत्न सफल नहीं होगा; क्योंकि, योजनाओं पर होनेवाले भारी-भरकम खर्च का आधा हिस्सा तो भ्रष्टाचारी लोगों के पास पहुँच जाता है, उसका लाभ उन गरीबों को मिलता ही नहीं, जिनके लिए योजनाएँ हैं। ज्यादा-तर लोग अनपढ़ हैं। अतः राजनीतिक तथा प्रशासनिक स्तर पर की नौकरशाही विकास-योजनाओं द्वारा उपलब्ध मदद आदि को हासिल करने के तरीकों को आम लोगों के हाथ लगने ही नहीं देती। अलग-अलग दलालों के चरित्र, योजनाओं के ढंग और सामान्य आदमी की राजनीतिक चेतना की कमी के कारण विकास-योजनाओं पर के खर्च का

बड़ा भाग भ्रष्टाचार की जेब में चला जाता है। अतः भ्रष्टाचार अनैतिक जीवन-प्रणाली का पोषण करने के कारण न केवल नैतिक दृष्टि से हेय है, बल्कि वह एक अहम् आर्थिक समस्या भी है। अभी तक ८० हजार करोड़ रुपये पाँच योजनाओं पर खर्च हो चुके हैं। आशा थी कि १०-२० वर्षों बाद जब ऊपर के वर्ग की तृप्ति हो जायगी तब पानी रिसने के सिद्धांत के अनुसार गरीबों के पास नवनिर्मित दौलत पहुँचकर गरीबी कम हो जायगी। ऐसा प्रत्यक्ष में हुआ नहीं, बल्कि उल्टा ही हुआ। अतः महँगाई एवं भ्रष्टाचार से मुक्त गरीबी मिटाने की पद्धति खोजना और उसके अनुरूप राजनीति गढ़ना जरूरी है।

गरीबी मिटाने की नयी पद्धति

भारत के गाँवों के साधन-स्रोत, श्रम-शक्ति और बुद्धि-शक्ति का वैज्ञानिक ढंग से नियोजन कर गाँव के लोगों की गरीबी मिटाने की योजना ग्रामसभा बनाये—यह नयी पद्धति होगी। यह बनाना अपेक्षाकृत सरल है, क्योंकि भूमि, पानी, प्रकाश, जंगल इत्यादि सारे प्राकृतिक संसाधन एवं श्रम-शक्ति गाँवों में मौजूद है। जो काम गाँवों में नहीं किया जा सकता, वह नगरों में हो—ऐसी नीति बने। इस व्यवस्था में जनसंख्या भी नियंत्रित करनी होगी, बल्कि गरीबी मिटने के साथ-साथ जनसंख्या भी सीमित होती चली जायगी। आज वह अनिर्बन्ध रीति से बढ़ रही है। गरीबी हो तो जनसंख्या बढ़ती है और जनसंख्या बढ़ने से गरीबी और बढ़ती है। इस दुश्चक्र को समाप्त करने के लिए गरीबी मिटाने का एवं जनसंख्या सीमित करने का प्रयत्न साथ-साथ करना होगा। आइये, आज की देश की परिस्थिति के संदर्भ में इस नयी अर्थ-नीति, राजनीति एवं समाज-नीति पर हम कुछ विचार करें। ●

४. कृषि

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'—धरती माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ, यह वेद-वाणी है। आज यही भू-माता भारत में समस्या बन गयी है। उपनिषदों में कहा है कि अन्न ब्रह्म है और उसे किसी भी प्रकार से उपजाओ। कृषि एक ऋषि-कार्य था। भारत की संस्कृति खेती थी। मनु ने कहा है कि धरती का अधिकार इसके प्रथम कर्षण करनेवाले का यानी जोतनेवाले का होगा। लेकिन आज भूमि पर श्रम करनेवाला किसान या मजदूर अधपेट और अधनंगा रहता है। वह कर्ज में जनमता है और कर्ज में ही मरता है। भारत में वह सबसे अधिक उपेक्षित, शोषित एवं पीड़ित है। उसकी यह हालत क्यों हुई ?

खेती में प्रगति—भारत की खेती में पिछले ३५ वर्षों में उत्पादन के मोर्चे पर कुछ तरक्की हुई न हो, ऐसा नहीं। कुछ फसलों के उत्पादन में भारत ने प्रशंसनीय प्रगति की है। जैसे—गेहूँ का उत्पादन १९५०-५१ में ६८ लाख टन था, वह १९७७-७८ में साढ़े चार गुना यानी ३ करोड़ १३ लाख टन हो गया है। कुल खाद्यान्नों का उत्पादन १९५०-५१ में साढ़े पाँच करोड़ टन था। वह अब ढाईगुना यानी तेरह करोड़ टन हो गया है। आज दुनिया में खाद्यान्नों के उत्पादन में भारत का क्रमांक चौथा है। कपास का उत्पादन करीब ३० लाख गाँठों से बढ़कर १९७७-७८ मे ७१ लाख गाँठें हुआ है। गन्ने में पिछले ३५ वर्षों में ढाई गुना उत्पादन हुआ। प्रश्न उठता है कि इतना होने पर भी भारत का किसान गरीब और हताश क्यों ?

भूमि-मालिकी में विषमता—इसके प्रमुख कारण दो हैं—एक तो कृषि

से पैदा होनेवाले माल के भाव में अन्याय किया जाना और दूसरा है— भूमि-मालिकी में विषमता। नीचे की तालिका से भूमि-मालिकों में विषमता स्पष्ट होगी :

किसानों के पास भूमि एकड़ों में		ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत (१९७१)		खेती का प्रतिशत (१९७१)
२५ एकड़ से अधिक	:	३.५	:	३१
१० से २५ एकड़	:	५.५	:	३०
५ से १० एकड़	:	१४	:	१८
२.५ से ५ एकड़	:	१४.५	:	१२
१ से २.५ एकड़	:	२२	}	९
१ एकड़ से कम	:	१८५		
भूमिहीन मजदूर	:	२८	:	०

इसका मतलब यह है कि भूमिहीन मजदूर और सीमान्त कृषक (ढाई एकड़ से कम जमीन के किसान को 'सीमान्त कृषक' कहा जाता है।) यानी कुल ६८ प्रतिशत ग्रामीणों के पास देश की कुल ९ प्रतिशत खेती है। केवल किसानों की संख्या लें तो भी आधे से ज्यादा किसानों के पास ढाई एकड़ से भी कम जमीन है। ५ एकड़ से कम जमीनवाले को 'छोटा किसान' कहते हैं। यानी किसानों में से तीन-चौथाई किसान छोटे या सीमान्त किसान हैं। भारत में ४ प्रतिशत किसानों के पास ३१ प्रतिशत भूमि है और आधे से अधिक किसानों के पास खेती का ९ प्रतिशत है। भारत के गाँवों में और किसानों की और मजदूरों की प्रमुख समस्या भूमि का यही **असमान वितरण** है। अतएव भूमि-सुधार एक बुनियादी कार्यक्रम है, जिसके बिना कृषि में पूरी तरक्की करना संभव नहीं और ग्रामीण जनता की गरीबी मिटना संभव नहीं।

भूमि-सुधार—स्वराज्य मिलने के फौरन बाद सन् १९४८ में कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने प्रसिद्ध अर्थशास्त्री

कुमारप्पा की अध्यक्षता में 'भूमि-सुधार-समिति' का गठन किया। इस समिति ने अनेक नीति-निर्देशक तत्त्व बताये और सिफारिशें कीं, जिनके आधार पर प्रथम पंचवर्षीय विकास-योजना में यह तय किया गया—

(क) जमींदारी-प्रथा समाप्त की जाय और किसान को खेती का मालिक बनाया जाय। यानी सरकार और किसान के बीच के बिचौलियों को समाप्त किया जाय।

(ख) जमीन की उच्चतम सीमा निर्धारित कर अतिरिक्त जमीन कम जमीन रखनेवाले अल्प भूमिवानों में और भूमिहीनों में बाँटी जाय।

(ग) असामियों का और बटाईदारों का लगान नियमित कर उन्हें सुरक्षा प्रदान की जाय, जिससे कि उन्हें कोई बेदखल न कर सकें।

(घ) कृषि-उत्पादन बढ़ाने का पूरा प्रयत्न किया जाय।

(च) सहकारी खेती को बढ़ावा दिया जाय।

(छ) गाँव की कुल भूमि-व्यवस्था का अधिकार ग्राम-पंचायत को दिया जाय।

अब हम यह देखें कि इनके बारे में क्या-क्या हुआ :

(क) **जमींदारी-उन्मूलन**—स्वराज्य के प्रथम दशक में जनता में और राष्ट्रीय सरकार में बड़ा उत्साह था। इस उत्साह में भूमि पर की जमींदारी, मालगुजारी, इनामदारी आदि प्रथाएँ समाप्त कर दी गयीं। अब भूमि-मालिक का सीधा संबंध सरकार से हो गया। छोटे और मध्यम ५० लाख किसान जो जमींदार के बटाईदार थे, जमींदार के शोषण से मुक्त हो गये। देश के कई हिस्सों में यह प्रथा प्रबल थी और करीब ४० प्रतिशत भूमि पर यह प्रथा थी। अब वह इतिहास की बात हो गयी। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि इसका पूरा लाभ प्रत्यक्ष जमीन जोतनेवालों को या सरकार को नहीं मिला। जमींदारों का

लगान का हिस्सा समाप्त हो जाने से सरकार का भू-राजस्व तीन-चार गुना जरूर हुआ, यह लाभ अवश्य हुआ। लेकिन जमींदार बड़ी-बड़ी जमीनों के मालिक थे। जमीन के इन टुकड़ों पर प्रत्यक्ष मेहनत करनेवाले किसान दूसरे ही थे। 'सीर', 'खुदकाश्त', 'खास' आदि नामों से ये जमीनें जमींदारी की समाप्ति के बाद जमींदारों के पास बनी रहने दी गयीं। अतः जमींदार अब बड़े भू-मालिक बन गये। इन जमीनों पर प्रत्यक्ष मेहनत करनेवाले किसान को कोई लाभ नहीं हुआ और जमींदार की भूमि का बँटवारा इनमें न हो पाने से इनकी खेती नहीं बढ़ी।

इतना ही नहीं, गाँव की परती जमीनें और जंगल भी सरकार के नाम हो गये। लेकिन इस कानून के प्रत्यक्ष क्रियान्वयन में बड़ी धाँधलियाँ हुईं। बिहार में पुराने बड़े जमींदारों ने गैर-मजरुआ जमीन हथिया ली। बिहार में ३५ लाख एकड़ ऐसी जमीन थी, जो भूमिहीनों में और अल्प-भूमिवानों में सरकार को बाँटनी चाहिए थी। सरकार ने केवल २ लाख एकड़ जमीन इन लोगों को बाँटी। दूसरी और ऐसी १० लाख एकड़ से अधिक जमीन पर भूमिवानों ने पुराने जमींदारों के फर्जी आदेश तथा अन्य गैर-कानूनी हक बताकर अपने नाम से लगान-निर्धारण करवा लिया और इस प्रकार इस जमीन पर कानूनी हक हासिल कर लिया। एक-एक परिवार में एक दिन में सैकड़ों एकड़ जमीन का लगान-निर्धारण अपने एवं अपने परिवार के विभिन्न लोगों के नाम से करवा लिया।

(ख) सीलिंग-हदबंदी-की कहानी—जहाँ जमींदारी-प्रथा नहीं थी, वहाँ रैयतवारी-प्रथा थी। वहाँ भी स्वराज्य-प्राप्ति तक साहूकार, व्यापारी एवं बड़े किसानों के पास जोत का बड़ा रकबा आ गया था और बटाई पर जमीनें देकर या मजदूर लगाकर वे खेती कराते थे। जमींदारी-प्रथा में तो बड़ी-बड़ी जमीनें जमींदार के पास रहने दी गयीं, यह हम देख चुके हैं। 'जमीन की अधिकतम सीमा-निर्धारण' की यानी

सीलिंग कानून की कहानी और ज्यादा दुःखद है। **'जोतेगा उसकी जमीन'** करने के लिए और भूमि-मालिकी की विषमता घटाकर भूमिहीन या अल्प-भूमिवान् के पास उसका कुटुंब सालभर काम करके परिवार का पोषण कर सकें, इतनी कम-से-कम भूमि देने के लिए कानून बनाने की बात पहली पंचवर्षीय योजना में कही गयी थी। वास्तव में इस योजना के प्रारूप में यह मुद्दा था ही नहीं क्योंकि भूमि-वितरण के लिए जमीन मिल सकेगी, इस बारे में योजना-आयोग और राष्ट्र के नेता सशंक थे। इस बीच आन्ध्र में विनोबाजी ने **'भूदान-यज्ञ'** शुरू किया और वह सारे भारत में फैला। हजारों एकड़ जमीन भूमिहीनों में मुफ्त बाँटने के लिए मिलने लगी और भूमि-वितरण के लिए अनुकूल वातावरण बना। इसका लाभ उठाकर सीलिंग कानून द्वारा भूमि बाँटी जाय यह मुद्दा प्रथम पंचवर्षीय योजना में जोड़ा गया। इस दिशा में कुछ कानून भी बने।

लेकिन सन् १९५१ से '७१ तक २० सालों में प्रगति नगण्य हुई। दूसरी ओर १५ लाख एकड़ जमीन बिना कानूनी सत्ता के और बिना भूदान-मुआवजे के भूदान-आंदोलन द्वारा बाँटी गयी थी। अतः सन् १९७२ में राज्यों के मुख्यमंत्रियों की परिषद् में सीलिंग की मर्यादा नीची करने की और इन कानूनों में जो छिद्र रह गये थे उन्हें दूर करने की सिफारिश की गयी। इन कानूनों में **'प्रत्यक्ष जोतनेवाला'** की व्याख्या ऐसी की गयी, जिससे नौकर रखकर खेत पर प्रत्यक्ष मेहनत किये बिना मालिक प्रत्यक्ष जोतनेवाला हो जाता है! पंजाब मे बैठकर कन्याकुमारी में कानूनन खेती हो सकती है। वैसे ही धर्मादाय ट्रस्ट, बाग-बगीचे, यंत्रों द्वारा खेती आदि पर सीलिंग लागू नहीं था। साथ ही, कानून बनाना है इस घोषणा के बाद कानून बनकर प्रत्यक्ष उसके क्रियान्वयन में कई साल लग जाते हैं। कोई मूर्ख ही होगा, जो तब तक अतिरिक्त जमीन नहीं बेच देगा! अतएव पूर्वप्रभावी कानून बनाना जरूरी है। इन नये कानूनों से

आज तक केवल १२ लाख एकड़ यानी भारत की कुल खेती की आधा प्रतिशत से भी कम जमीन वितरित हुई है, जब कि पहली योजना में छः करोड़ एकड़ जमीन बाँटने का अंदाज किया गया था।

इसमें से भी कितनी भूमि वास्तविक मेहनत करनेवालों को मिली है और कितनी बड़े और मध्यम किसानों ने अधिकारियों के साथ मिल-कर खुद हड़प ली है,—यह एक अलग कहानी है। भारत ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के भू-सलाहकार वुल्फ लेडजिन्स्की को भारत की भूमि-समस्या की जाँच करके सुझाव देने के लिए बुलाया था। उन्होंने अध्ययन के बाद कहा है कि पजाब और अन्य राज्यों में नेताओं ने हरिजन एवं भूमिहीनों के बीच बाँटी जानेवाली जमीनें हड़प लीं। तैवान में बहुत बड़ी मात्रा में भू-वितरण का काम हुआ है। भारत में क्यों नहीं हुआ? इसीलिए कि राजनीतिक इच्छा-शक्ति का अभाव, नौकरशाही का ज़मींदारों के साथ गठबंधन, छोटे किसानों के एवं भूमिहीनों के बलवान् संगठनों का अभाव, ये ही इसके कारण हैं।

(ग) बटाईदारों की सुरक्षा—बटाईदारों का लगान-निर्धारण करने के लिए और उन्हें सुरक्षा प्रदान करने के लिए कई कानून बनाये गये। कई राज्यों में फसल का २५ प्रतिशत लगान निश्चित किया गया। कुछ राज्यों में भू-राजस्व को या लगान की अमुक गुना रकम देने पर बटाई-दारों को मालिकी देने के कानून बने। लेकिन इन पर बहुत ही कम अमल हो पाया। महाराष्ट्र में कानून तो प्रगतिशील बना था, लेकिन बटाईदार को या असामी को रेकार्ड में **नौकर** बताया गया और १७ लाख एकड़ जमीन सन १९४८ से १९५८ के बीच उनसे छीन ली गयी।[५] हर तीन में से दो बटाईदारों से जमीन छीन ली गयी। लेडजिन्स्की ने कहा है कि अधिकारियों ने एवं नेताओं ने पुलिस की मदद से अपनी शक्ति एवं प्रभाव का दुरुपयोग कर, स्थानीय लोगों को बेदखल कर, बेरहमी से अपना कब्जा और कानूनी हक हासिल कर लिया। इसलिए

बड़े पैमाने पर बेदखलियाँ हुईं। सन् १९५१ और १९७१ के बीच लगान पर की जानेवाली खेती का अनुपात कुल खेती की तुलना में २०.३ प्रतिशत से घटकर १०.६ प्रतिशत हो गया। जिनके पास अपनी कोई जमीन नहीं थी, ऐसे बटाईदारों का अनुपात १७ प्रतिशत से ४ प्रतिशत हो गया।[६]

(**घ**) **कृषि-उत्पादन बढ़ाना**—नये बीज, रासायनिक खाद, फसल पर आनेवाले रोगों की दवाइयाँ आदि का सरकार द्वारा पिछले वर्षों में काफी प्रसार हुआ। फलस्वरूप खेती में **'हरित क्रान्ति'** हुई। सिंचाई की विविध योजनाएँ बनीं। चकबन्दी का कुछ काम हुआ। एक किसान की खेती औसत पाँच टुकड़ों में बिखरी हुई है। अतः चकबन्दी की जरूरत है। कुल भारत की ३० करोड़ एकड़ खेती में से ११ करोड़ एकड़ की चकबन्दी हुई है, यानी आधे से अधिक काम अभी बाकी है। चकबन्दी का काम पंजाब, हरियाना एवं उत्तर प्रदेश में पूरा हो चुका है। मेड़-बन्दी (बण्डिंग) का काम कम ही हुआ है। करीब साढ़े पाँच करोड़ एकड़ में मेड़-बन्दी हुई है। एक सेंटीमीटर मिट्टी की तह बनाने में प्रकृति को ३०० साल लग जाते हैं। अतः मिट्टी बचाने का यह कार्य युद्ध-स्तर पर होना चाहिए।

सिंचाई—भारत में स्वतंत्रता के समय १३ प्रतिशत खेती पर यानी करीब ५ करोड़ एकड़ पर सिंचाई होती थी। आज १२ करोड़ एकड़ पर सिंचाई हो रही है। जापान में ७५ प्रतिशत खेती सिंचाई के अधीन है और मिस्र में शत-प्रतिशत। यद्यपि इतनी सिंचाई भू-गर्भ-जलस्रोतों की अपर्याप्तता के कारण भारत में संभव न हो, तो भी २५ करोड़ एकड़ खेती की सिंचाई हो सकती है। इसलिए अभी दुगुनी सिंचाई के लिए अवकाश है। सिंचाई में भारत अधिक प्रगति नहीं कर सका, क्योंकि प्रथम २० वर्षों में बड़ी-बड़ी नदी-घाटी-योजनाओं पर जरूरत से ज्यादा जोर दिया गया। इन योजनाओं में अरबों रुपयों की

पूंजी लगती है और इनका पानी उपयोग में लाने में कई वर्ष लग जाते हैं। प्रारम्भिक अंदाज से खर्च भी कई गुना बढ़ जाता है और सिंचाई की क्षमता घट जाती है। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र के भीमा प्रकल्प का व्यय-लाभ का अनुपात प्रारंभ में १ : ६.३ था यानी खर्चे के छ गुना से अधिक लाभ होगा—ऐसा बजट सन् १९६३ में बनाया गया था। सन् १९८० में यह अनुपात १ : ०.९ हो गया है। सन् १९७९ तक भारत सरकार ने १० हजार ५५६ करोड़ रुपया सिंचाई एवं जल-विद्युत्-शक्ति योजनाओं में खर्च किया और आज देश में १,५०० ऐसे प्रकल्प हैं।

कई स्थानों पर इन बड़ी योजनाओं के दुष्परिणाम देखने में आये हैं। प्रो० माधव गाडगिल ने पश्चिमी घाटों की योजनाओं का अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला है कि प्रकल्प के पहले स्वस्थ हास्यमुख समाजों को उखाड़कर उन्हें भगवान् भरोसे फेंक दिया, उनकी वैकल्पिक बसाहट कई वर्ष बीत जाने पर भी नहीं की गयी, प्रकल्प के लिए व्यापक पैमाने पर जंगलों का नाश किया गया, जिससे पर्यावरण का असंतुलन पैदा हुआ। इससे काली हाईडल-प्रोजेक्ट में एक प्रकार का वीड (अपतृण) बढ़ा और इससे पशु-संपत्ति के एवं आग लगकर वन-संपत्ति के भयंकर नाश की संभावनाएँ बढ़ीं। मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में तवा प्रकल्प के कारण हजारों एकड़ उर्वरा-भूमि नष्ट हो गयी। अतः वहाँ 'मिट्टी बचाओ' अभियान चलाया जा रहा है। ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि प्रकल्पों के निर्णय राजधानियों में बैठकर शहरी लोग लेते हैं और जिन्हें प्रकल्पों के दुष्परिणामों का शिकार होना पड़ता है, उनसे राजधानियाँ कोसों दूर हैं। अतः प्रकल्पों का निर्णय संबद्ध ग्रामीणों की सभा बुलाकर उनके साथ लेने की कनाडा की और अमेरिका की पद्धति भारत में भी लागू की जानी चाहिए।[७] वैसे ही छोटे-छोटे बाँध बनाकर नदी-नालों का पानी रोककर एक बारिश के अभाव में कई बार जो पहली खरीफ की फसल मारी जाती है, वह रोकी जा सकती है। महाराष्ट्र में नासिक जिले में

बागलाण में ४-५ सौ वर्ष पूर्व गोंड राजाओं ने नदी को हर गाँव पर रोक-कर एसे बाँध बनाये थे और उससे निचले गाँव को पानी मिलता था। इससे बागलाण में पिछले ४०० वर्षों में अकाल नहीं पड़ा, यह नासिक जिले के 'जिला गजेटियर' में लिखा हुआ है। इसके अलावा कुओं और नलकूपों द्वारा होनेवाले सिंचाई का क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है।

(च) सहकारी खेती का अधिक प्रसार नहीं हो सका।

(छ) ग्रामपंचायत को भूमि-व्यवस्था के अधिकार देने का प्रयत्न ही नहीं हुआ।

सारांश यह कि प्रथम पंचवर्षीय योजना ने भूमि-सुधार के लिए जो लक्ष्य बनाये थे वे सबके सब अधिकतर जमींदारी-समाप्ति को छोड़कर विफल हो गये।

खेती को ऋण कम—इन सारी कमियों के अलावा कृषि को दिये जानेवाले ऋण पर के ब्याज की दर बहुत ज्यादा थी और कृषि को अपर्याप्त पूंजी दी गयी। पहली विकास-योजना में कृषि के लिए ३७ प्रतिशत रकम का प्रावधान था। दूसरी पंचवर्षीय योजना में उसे घटाकर १७ प्रतिशत किया गया और बाद की योजनाओं में २३ प्रतिशत के लगभग रखा गया। दूसरी ओर संगठित उद्योग और खदानों के लिए प्रथम योजना में ५ प्रतिशत रकम का प्रावधान किया गया था। दूसरी योजना में उसे करीब २४ प्रतिशत किया गया और बाद की योजनाओं में करीब यही प्रतिशत रहा है।[८] इनके बावजूद खाद, पानी, सुधरे हुए बीज आदि के कारण उत्पादन में निम्न बढ़ोतरी हुई है—[९]

फसल का नाम	उत्पादन (१९५०-५१)	उत्पादन (१९७७-७८)
चावल	२२० लाख टन	५२६ लाख टन
ज्वार	६२ ,,	११८ ,,
गेहूँ	६८ ,,	३१३ ,,

फसल का नाम	उत्पादन (१९५०-५१)	उत्पादन (१९७७-७८)
दाल	९१ लाख टन	११० लाख टन
कपास	३० लाख गठानें	७१ लाख गठानें

संतुलित आहार की दृष्टि से देखें तो यह उत्पादन चावल, गेहूँ को छोड़कर दाल, तिलहन, दूध-घी, सब्जी, फल एवं चीनी-गुड़ में बहुत कम है। जैसे, तिलहन का उत्पादन आज से अधिक, दूध का उत्पादन करीब दुगुना, फल का ५ गुना से अधिक (आज फल प्रतिव्यक्ति १६ ग्राम उपलब्ध है, जब कि आवश्यकता ८५ ग्राम की है) उत्पादन होना चाहिए। अन्य राष्ट्रों में भारत की तुलना में कहीं ज्यादा उत्पादन होता है। नीचे की तालिका से इसका अन्दाज लग सकेगा—[१०]

आधार-वर्ष १९७१ उत्पादन प्रतिहेक्टर (क्विंटलों में)

फसल	देश	उत्पादन	फसल	देश	उत्पादन
चावल—	भारत	१७	गेहूँ—	भारत	१२
	अर्जेन्टाइना	३२		अमेरिका	२३
	आस्ट्रेलिया	६२		इटली	२५
	जापान	५२		सं० अरब गणराज्य	२८
	केनिया	६४		इंग्लैण्ड	४१
गन्ना—	भारत	४८३		नेदरलैण्ड	३५
	इंडोनेशिया	७२५	मूँगफली—	भारत	८
	अमेरिका	९२१		इटली	२४
कपास—	भारत	१.५		इसराइल	४०
	चीन	३	मक्का—	भारत	९
	अमेरिका	५		अर्जेन्टाइना	२४
	रूस	८.५		हंगरी	३६
	इसराइल	१२.६		अमेरिका	५४

इन आँकड़ों से निष्कर्ष निकलता है कि न केवल विकसित देशों में, बल्कि अन्य पिछड़े देशों में भी भारत की तुलना में फसल की पैदावार अधिक है।

हरितक्रांति के परिणाम—हरितक्रांति से गेहूँ, चावल सरीखी कुछ फसलों का उत्पादन बढ़ा। लेकिन उसका लाभ खेती से संबद्ध सबको नहीं हुआ।

(१) इसका पहला कारण यह है कि हरितक्रांति मुख्यत: पानी पर अवलबित है। अत: जहाँ सिंचाई की सुविधा थी या हो सकी, जैसे पंजाब, हरियाना और प० उत्तर प्रदेश, वहाँ इसका लाभ अधिक हुआ। जहाँ सिंचाई की सुविधा करना कठिन है, ऐसे भारत के आधे से ज्यादा हिस्से में इसका लाभ मिला ही नहीं। अत: हरितक्रांति से क्षेत्रीय असंतुलन बढ़ा और निर्धनता के सागर में जहाँ-तहाँ संपन्नता के द्वीप बन गये हैं।

(२) हरितक्रांति की नयी तंत्र-विद्या को अमल में लाने के लिए बड़ी पूंजी चाहिए।

किसानों के तीन वर्गों पर इसके अलग-अलग परिणाम हुए।

(क) बड़े किसान—पुरानी पूंजी या अन्य धंधों से जिन्हें नकद आय होती थी, ऐसे बड़े जमीन-मालिकों ने इससे अधिक लाभ उठाया। इन्हें ऋण भी आसानी से मिल सकता था। ये बड़े किसान खुद खेती में मेहनत नहीं करते और मजदूर लगाकर खेती करवाते हैं। कुछ संबद्ध कानूनों को ताक पर रखकर भारी लगान पर जमीन बटाईदारों को देते हैं। गाँव की बढ़िया जमीन अक्सर इन्हीके पास रहती है और जमीन की मात्रा आदि इनके पास आधे से ज्यादा है। ७०-८० प्रतिशत पूंजी भी इन्हींके पास है। ये सामान्यत: ऊँची जाति के हैं और गाँव में राजनीतिक प्रभाव रखते हैं। सरकार के भू-विकास के एवं ग्राम-विकास के लाभ एवं सुविधाएँ इन्हें मिलती हैं। इनका अनुपात ग्रामीण जनसंख्या का करीब १० प्रतिशत

है। बड़े किसान मुख्यत: व्यापारी फसलें लेते हैं। ये राजनीति में भी गये और राजनीति पर इनका काफी असर है।

(ख) मध्यम किसान—मध्यम किसानों को इसका लाभ कम मिला। ये मध्यम किसान मध्यम जातियों के हैं और अपने खेतों में काम करते हैं। जब काम ज्यादा होता है तब अपने खेत में काम करने के लिए दूसरों को भी लगाते हैं। दूसरे के खेतों पर काम करने के लिए वे नहीं जाते, क्योंकि इसे वे अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं। इनके पास ५ से १० एकड़ जमीन रहती है। जमीन के कुछ हिस्सों में ये नयी तकनीकी को अक्सर सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत देकर अपना पाते हैं। इन्हें कर्ज या पानी समय पर नहीं मिलता। अत: समय की बरबादी और रिश्वत के कारण कृषि-विकास का इनका सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता है। इस असंतुष्ट किसानों के वर्ग पर खेती की तरक्की निर्भर है। इनकी संख्या औसत एक-चौथाई है।

(ग) तीसरा वर्ग है, छोटे और सीमान्त किसानों का। हरितक्रांति का लाभ इन्हें मिला नहीं और ये आज भी पुरानी पद्धति से ही खेती कर रहे हैं। ये दूसरों के खेत पर भी काम करते हैं और कभी-कभी बटाई से दूसरों की खेती करते हैं। इनकी उत्पादकता कम है, क्योंकि विज्ञान के लाभ से ये वंचित हैं। इनमें से ज्यादातर किसान हरिजन, आदिवासी और अन्य पिछड़ी जातियों के हैं। इनकी संख्या ग्रामीण जनसंख्या का ४० प्रतिशत है। पूंजी के अभाव में हरितक्रांति के जमाने में ये अन्य किसानों के मुकाबले टिक नहीं सकते। अत: इनमें से कुछ खेती बेचकर मजदूर बनते हैं या काम-धंधे की खोज में शहर चले जाते हैं।

इस प्रकार हरितक्रांति ने इन तीन वर्गों के किसानों के बीच की विषमताएँ पहले से कहीं अधिक बढ़ायी हैं। इस पूँजीवादी खेती के मुनाफे से ललचाकर कई नगरवासियों ने नौकर लगाकर देहातों में

खेती करना आरंभ किया। पहले इसमें से कुछ खेती बटाई पर बटाई-दारों को दी जाती थी। अब हरितक्रांति के कारण नौकर लगाकर खेती करना ज्यादा लाभदायक मालूम हुआ और इसलिए बटाईदारों को हटाकर बड़े पैमाने पर बेदखलियाँ हुईं। भूमिहीनों का प्रतिशत पिछले ३५ सालों में डेढ़गुना हो गया। हरितक्रांति ने इस 'नूतन धनपति' वर्ग को गाँवों में निर्माण किया एवं बढ़ावा दिया। इससे गरीबों का गरीबी और अमीर-गरीब के बीच में विषमता बढ़ी। भूमिहीन मजदूर को तो हरितक्रांति का प्रत्यक्ष लाभ मिलने का सवाल ही नहीं था। हरितक्रांति से रोजगार बढ़ता तो उसे परोक्ष लाभ होता। खेती में यांत्रिकीकरण से रोजगार में खास वृद्धि नहीं हुई। किसानों का प्रतिशत हरितक्रांति के द्वारा घट रहा है और भूमिहीनों का प्रतिशत गाँवों में बढ़ रहा है, यह नयी घटना इन वर्षों में घटी है। वैसे ही मजदूरों के काम के दिन सन् १९६४ में खेती में सालभर में १८३ थे। सन् १९७५ में वे १६५ हुए हैं और इन पर कर्ज का भार बढ़ा है।

कृषि-उत्पादन को वाजिब दाम न मिलने से उत्पादन बढ़ाने को किसान को कोई प्रेरणा नहीं है।

भविष्य में कृषि की व्यवस्था—प्रकृति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध बना रहे यह स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है। इसलिए हरएक के पास कुछ जमीन एवं कोई उद्योग हो। यह एक जीवन-पद्धति है। सीमान्त किसानों की एवं भूमिहीन मजदूरों की दशा गिर रही है। जमीन की आज की व्यवस्था के कारण उसकी पूरी उत्पादन-क्षमता का उपयोग नहीं हो रहा है। अतः भूमि पर मालिकी ग्राम-समाज की रहे। लेकिन उसके उपयोग का, फसल का एवं वारिसाना अधिकार जमीन पर प्रत्यक्ष मेहनत करनेवाले का हो। स्वतंत्रता के बाद हम इस आदर्श की ओर नहीं जा सके, बल्कि स्थिति बिगड़ती गयी है। अतः इस आदर्श की ओर जानेवाले कदम निम्नलिखित हो सकते हैं—

(१) जो परिवार जितनी जमीन पर अपनी मेहनत से खेती कर रहा है और जिसे सामान्यतः खेती पर मजदूर नहीं लगाना पड़ता है, उतनी जमीन उस परिवार के पास रहे।

(२) बची हुई जमीन पर नौकरों के द्वारा खेती कराना बन्द किया जाय। उस जमीन को बटाई पर सीमान्त-किसान को या भूमिहीन मजदूर को देने की छूट जमीन-मालिक को दी जाय। बटाई पर दी हुई जमीन का लगान फसल का चौथाई हिस्सा निश्चित किया जाय। इससे अधिक की प्रत्यक्ष में वसूली न हो। वैसे ही बटाईदारी की बेदखली को पूर्ण रूप से रोककर बटाईदारों को सुरक्षितता प्रदान की जाय। इनके क्रियान्वयन का भार ग्राम समाज पर डाला जाय।

(३) खेती के अलावा अन्य स्रोतों से एक हजार रुपये मासिक से जिनकी आय अधिक हो, उनसे उनकी जमीन निकाल ली जाय। ये व्यक्ति भले ही गाँव के अन्दर रहनेवाले हो या नगरों में रहनेवाले हों।

(४) सीलिंग के कानून का ठीक क्रियान्वयन किया जाय। मौजूदा सीलिंग कानून से ५५ लाख एकड़ जमीन अतिरिक्त घोषित हुई है। आज की कानूनी मर्यादा को नीचे न करते हुए भी कानून के छिद्र बंद करने से (जैसे, बेनामी हस्तांतरण, मठ-मंदिरों की जमीन) और २ करोड़ एकड़ जमीन छाँटी जा सकती है, ऐसा अनुमान है। अगले दो-तीन सालों का समयबद्ध कार्यक्रम बनाकर यह काम किया जाना चाहिए।

(५) सीलिंग की जमीन, भूदान की जमीन और गाँव की बँटने योग्य परती जमीन मिलाकर यह सारी जमीन ढाई एकड़ के नीचे के किसानों को एवं भूमिहीन कृषि-मजदूरों को प्रति परिवार एक एकड़ के हिसाब से (जहाँ भूमि अत्यंत कम हो, वहाँ इससे कम, पाटील समिति ने ½ एकड़ की सिफारिश की थी[११]) बाँटी जाय। यह जमीन गृह-वाटिका के लिए उस परिवार के पास रहे, जिसमें वह साग-सब्जी एवं फल पैदा कर सकें और गाय या बकरी बाँध सकें। सिंचाई-कार्यक्रम में इस भूमि को प्राथ-

मिकता दी जाय। इस प्रकार के भू-वितरण एवं बटाईदारों को सुरक्षितता मिलने से प्रति एकड़ भूमि पर अधिक श्रम होगा। जापान में सौ एकड़ में ८७ श्रमिक काम करते हैं, तैवान में ७५, जब कि भारत में केवल ३६।[१२] इस प्रक्रिया को प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिरडाल ने अर्धविकसित देशों के आर्थिक विकास की कुंजी माना है।

(६) प्रत्यक्ष गाँव में जाकर, भूमिहीन बटाईदार एवं किसानों की उपस्थिति में गाँव की सार्वजनिक सभा में अतिरिक्त जमीन प्राप्त करने का एवं जमीन बाँटने का कार्य किया जाय। इससे कार्य जल्दी, समग्र और ठीक होगा। जिन्हें जमीन बाँटी गयी है, उन्हें खेती के अधिकारों के पट्टे, प्रत्यक्ष क्षेत्र में जाकर, सर्वेक्षण करके दे दिये जायँ। यह कार्य-पद्धति पश्चिम बंगाल, केरल और कर्नाटक में अपनायी गयी और इसके अच्छे नतीजे आये।

(७) ऊपर की बातों पर अमल कराने के लिए प्रखण्ड-स्तर पर समितियाँ एवं ट्रिब्यूनल बनाये जायँ। इन समितियों और ट्रिब्यूनलों में आधी संख्या भूमिहीनों की एवं बटाईदारों की रहे।

(८) भविष्य में गाँव के बाहर रहनेवाले को गाँव की अंदर की जमीन खरीदने का अधिकार न रहे। न्याय्य भू-वितरण की ओर बढ़े बिना न तो खेतो में कोई प्रगति होगी और न सुखी ग्रामीण समाज ही बन सकेगा। इसके साथ-साथ खराब खेती को अच्छा बनाने की ओर भी ध्यान देना होगा, जिससे कि खेती की पूरी उत्पादन-क्षमता का लाभ उठाया जा सके।

जंगल—जंगलों का महत्त्व सब लोग जानते हैं। क्षेत्र के एक-तिहाई भाग में जंगल ही जंगल रहें। पर्यावरण-संतुलन के लिए यह अत्यावश्यक है। स्वतंत्रता के बाद जंगल बेतहाशा काटे गये हैं और अब सिर्फ २३ प्रतिशत जमीन जंगलों के बीच बतायी गयी है। इसमें बहुत-सा क्षेत्र जंगल है हो नहीं, यानी वह केवल कागज पर ही जंगल लिखा है।

सन् १९५२ के बाद सिंचाई-प्रकल्प बनाने के लिए और 'अधिक अन्न उपजाओ' की योजना के लिए ४५ लाख एकड़ भूमि पर से जंगल काटे गये। फलस्वरूप बारिश कम होकर वहाँ रेगिस्तान जैसी हालत बन गयी है। कुछ प्रदेशों में जंगल बहुत कम हैं, जैसे हजार व्यक्तियों के पीछे पंजाब में ढाई एकड़, पश्चिम बंगाल में साढ़े सात एकड़ और गुजरात में १५ एकड़ जब कि सौ व्यक्तियों के पीछे २५-३० एकड़ जंगल तो होना ही चाहिए। अतः जंगल बड़ी तादाद में लगाये जायँ। साथ-साथ सामाजिक वानिकी (सोशल फॉरेस्ट्री) का प्रयोग जगह-जगह किया जाय, जिससे कि वृक्ष लगाने में और उनके संवर्धन में ग्रामीण परिवारों को रुचि पैदा हो सके और वे उससे लाभ उठा सकें। इस सिलसिले मे खेत की मेड़ों पर और अन्यत्र कुबबूल नाम के नये वृक्ष को बढ़ाना लाभदायक होगा। यह पेड़ जल्दी बढ़ता है और पशु को चारा, आदमी के लिए सब्जी, ईंधन और इमारती लकड़ी देता है। कुबबूल वास्तव में कामधेनु है।

पशु-पालन—दुनिया में संख्या की दृष्टि से सबसे ज्यादा गाय-भैंस भारत में हैं। सन् १९७२ में भारत में १८ करोड़ गाय-बैल एवं ६ करोड़ भैंसें थीं। गाय-बैलों की यह संख्या दुनिया की संख्या का छठा हिस्सा और भैंसों का आधा हिस्सा है।[13] दूध, खेती के काम, यातायात के साधन बहुमूल्य खाद एवं मरने पर चमड़ा—इन सब दृष्टियों से ये पशु उपयोगी हैं। इनसे देहातों में भूमिहीन और छोटे किसानों को रोजगार मिलता है। खासकर महिलाओं को रोजगार देने का यह एक प्रमुख धंधा है। आज भी दूध का उत्पादन सन् १९५१ के स्तर तक नहीं आ पाया है। आज गाँववालों को ६३ ग्राम दूध उपलब्ध है। भारत में औसत ११८ ग्राम दूध उपलब्ध है, जब कि इंडियन कौंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च–भारतीय चिकित्सा मण्डल के शोध-संस्थान के पोषण दल ने प्रौढ़ों के लिए २०० ग्राम प्रतिदिन दूध को आवश्यक माना है।[14]

गाय-बैलों से चार करोड़ अश्व-शक्ति पैदा होती है, जो ३० हजार

मेगावाट विद्युत्-शक्ति के बराबर होती है। आज भारत में कुल २६ हजार मेगावाट बिजली पैदा होती है। यानी बिजली से ज्यादा शक्ति हमें बैलों से उपलब्ध होती है। उसके साथ-साथ पशुओं से ८ करोड़ टन सूखा गोबर भी मिलता है, जो जलावन के काम आ जाता है। यदि इस गोबर में पत्तियाँ मिलाकर गैस प्लँट द्वारा गैस पैदा कर डीजल इंजन में उसका उपयोग किया जाय तो एक बैलजोड़ी के गोबर के गैस से एक अश्वशक्ति का इंजन ६ घंटे चलेगा यानी एक बैलजोड़ी के गोबर से बनायी गैस से करीब उतना ही काम लिया जा सकेगा, जितना कि उसकी खींचने की ताकत से लिया जाता है।[१५] जलावन के लिए कुबबूल जैसे पेड़ों के इंधन का उपयोग किया जाय।

महाराष्ट्र में पुसद के श्री पांढरीपांडे ने एक प्रयोग करके सिद्ध किया है कि एक गाय के मूत्र एवं गोबर का उपयोग कर कचरे के साथ वैज्ञानिक खाद बनायी जाय तो ४० टन खाद मिल सकती है, जिसमें नत्र ०.५ रहता है। इससे १० एकड़ खेती को खाद मिल सकती है। यानी देश के पशुधन से भारत की सब खेती को पूरी खाद मिल सकती है। इससे रासायनिक खादों से होनेवाली जमीन की खराबी तो बचायी ही जा सकती है; रासायनिक खाद के लिए जो पेट्रोल लगता है उसके लिए विदेशी मुद्रा देनी पड़ती है, उसे भी बचाया जा सकता है। कम्पोस्ट खाद के निर्माण से गाँवों में गरीबों के रोजगार में भी वृद्धि होगी। कृत्रिम खाद के उपयोग से फसल पर आनेवाली बीमारियाँ रोकने के लिए जो जहरीली दवाइयाँ छिड़कनी पड़ती हैं, उससे भी खेत की मिट्टी और वनस्पतियाँ बचेंगी। कम्पोस्ट खाद पर उगनेवाली फसल में अधिक सत्त्व होगा। अतः सभी दृष्टियों से पशुओं के खाद्य, प्रजनन और रोग-निवारण की उत्तम व्यवस्था कर पशुओं के उत्तम पालन पर ख्याल देना राष्ट्रीय कर्तव्य है।

स्वराज्य के बाद सन् १९७१ तक हमारे पशुओं की संख्या बढ़ती

गयी। लेकिन पिछले १० वर्षों से यह संख्या लगातार घट रही है, क्योंकि मांस का निर्यात बड़े पैमाने पर विदेशों को, खासकर अरब राष्ट्रों को, होने लगा है। राष्ट्रीय नमूना सर्वे के तीसरे चक्र के अनुसार सन् १९७२ में ५ करोड़ ३१ लाख गाएँ भारत में थीं, पर सन् १९७६ में उनकी संख्या घटकर ४ करोड़ ५५ लाख ही रह गयी। सन् १९७६ के बाद यह संख्या और तेजी से घटी है। यही हाल भैंसों का हुआ। बैल अत्यंत महँगे हो रहे हैं। गो-रक्षा के जो कानून बने हैं, उनका ठीक से पालन नहीं हो रहा है। प्रतिवर्ष १ करोड़ गाय-बैल कटते हैं ऐसा अनुमान है। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में पेट्रोल के और डीजल के भाव बेतहाशा बढ़ गये हैं। ऐसे समय में देश की अंदरूनी शक्ति को यानी गाय-बैलों को नष्ट कर विदेशी मुद्रा हड़पनेवाले आयात किये हुए तेल पर निर्भर रहने को अवैज्ञानिकता के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? अतः विनोबाजी ने गो-हत्या-बंदी की जो आवाज लगायी है, वह नैतिक आवाज तो है ही, ठोस आर्थिक लाभ की भी है, इसलिए वह तुरत अमल करने लायक है।

दूध की बाढ़ की योजना—केवल बड़े शहरों को सस्ता दूध मिले, इसके लिए दूध की बाढ़ (आपरेशन फ्लड—१ और २) की योजनाएँ सरकार ने चलायी हैं। इससे दूध का उत्पादन थोड़ा बढ़ा। लेकिन पैसे के लोभ से और कर्ज चुकाने की अनिवार्यता से जो थोड़ा दूध और छाछ देहातों में आज तक रहता था वह भी अब शहरों में पहुँचने लगा है। स्वयं भारत सरकार के तत्कालीन कृषिमंत्री श्री राव वीरेन्द्रसिंह ने १३ अप्रैल '८१ को नयी दिल्ली में एक परिसंवाद में कहा था कि यह बाढ़ की योजना डेअरी-विकास कार्यक्रम नहीं था, बल्कि गरीबों की कुर्बानी पर आधारित नगरों को सस्ता दूध भेजने का कार्यक्रम था। उन्होंने यह भी कहा कि इस योजना के प्रमुख केन्द्र, आनन्द में भी किसानों को अपने दूध का उचित दाम नहीं मिलता है और किसानों के कमजोर बच्चों को बढ़े हुए दूध के उत्पादन में से अधिक दूध भी नहीं मिलता है। इस

योजना में दूध-उत्पादन का लक्ष्यांक सन् १९७५ तक २३० लाख लीटर प्रतिदिन माना गया था। पर सन् १९६९ में भी उत्पादन १२० लाख लीटर के आगे नहीं गया। इसका कारण यह है कि दूध के वाजिब दाम नहीं दिये जा रहे हैं और बाढ़ के नाम पर विदेशों से दुग्धचूर्ण, वीर्य, यन्त्र आदि की बाढ़-सी ही आ गयी है।

गाँवों की कुर्बानी पर नगरों की आवश्यकता पूरी करने की ऐसी योजनाओं के स्थान पर दूध के उत्पादन-खर्च पर आधारित उचित दाम तय हो और गाँव की आवश्यकताएँ पूरी होने के बाद बचा हुआ दूध शहर में पहुँचे, ऐसी योजना बनायी जानी चाहिए। बूढ़े गाय-बैलों की देखभाल के लिए 'गो-सदन' खोले जायँ, जिनका खर्च उनके उत्पादन से और समाज और सरकार की सहायता से पूरा किया जाय। इस प्रकार भारत का पशु-पालन आदर्श हो सकता है। इसके लिए केवल फसलों की खेती न हो कृषि-पशु-पालन को संयुक्त कर सम्मिश्र खेती होनी चाहिए।

५. उद्योग

स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्र को आधुनिक उद्योगों में बहुत तरक्की हुई है, यह नीचे की तालिका से पता चलेगा।[16]

वस्तु का नाम	उत्पादन (सन् १९५०-५१)	उत्पादन (सन् १९७७-७८)
कोयला	३२८ लाख टन	१०४७ लाख टन
इस्पात	१०.४ लाख टन	७०.२ ,, ,,
ताँबा	७ हजार टन	२१ हजार टन
मशीन औजार	०.३ लाख रु०	१०२ लाख रु०

वस्तु का नाम	उत्पादन (सन् १९५०-५१)	उत्पादन (सन् १९७७-७८)
रेलवे वैगन	२,९००	१२,२००
मोटर साइकिल और स्कूटर	०	२ लाख
सिलाई मशीन	३३ हजार	३६४ हजार
ट्रांसफार्मर	२ लाख किलोवाट	१५६ लाख कि० वाट
बिजली के मोटर	१ लाख अश्वशक्ति	४० लाख अश्वशक्ति
बिजली के पंखे	२ लाख	३४ लाख
उर्वरक	१८ हजार टन	२७ लाख
सलफुरिक एसिड	१ लाख टन	२० लाख टन
सीमेन्ट	२७ लाख टन	१९३ लाख टन
पेट्रोल के पदार्थ	२ लाख टन	२३२ लाख टन
कपड़ा	४२१ करोड़ मीटर	८१४ करोड़ मीटर
चीनी	११ लाख टन	६५ लाख टन
बिजली	५३० करोड़ किलोवाट	९२१८ करोड़ कि० वा०

औद्योगिक नीति—स्वराज्य के उषःकाल में सन् १९४८ में उद्योग-नीति तय की गयी। आज भी यही नीति सामान्यतः जारी है। इसके अनुसार मुख्य उद्योग यानी चाबी के या मूलभूत उद्योग सरकारी क्षेत्र में खोले जायेंगे। बचे हुए उद्योग खानगी क्षेत्र में रहेंगे और वे सरकार द्वारा नियत की हुई मर्यादाओं के अन्दर चलेंगे। मूलभूत उद्योगों में बड़े यंत्रों से उत्पादन करना शायद जरूरी था। लेकिन छोटी छोटी उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में भी भारत ने इंग्लैंड-अमेरिकावाला बड़े-बड़े कल-कारखानोंवाला रास्ता अपनाया। इन उद्योगों के लिए विदेशी पूंजी ऋण के रूप में लेनी पड़ी और यहाँ के कच्चे माल के उत्पादक को कम कीमत देकर यानी उसका शोषण करके पक्के माल के दाम ऊँचे रखने के

लिए उद्योगपतियों को सरकार ने इजाजत दे दी। इस प्रकार भारतीय गरीब जनता का शोषण कर आधुनिक भारतीय उद्योगों का विशाल भवन खड़ा किया गया है।

परिणाम—इस नीति का परिणाम यह हुआ है कि डेढ़ सौ वर्षों के विदेशी शासन में भारत के गाँवों के जितने उद्योग नष्ट हुए उससे अधिक उद्योग पिछले ३५ वर्षों में स्वराज्य के बाद समाप्त हुए हैं। इस नीति के ताजा उदाहरण 'नायलान' और 'प्लास्टिक' हैं। इससे रस्सी, चटाई, टोकनियाँ, चमड़े के खिलौने, विविध मिट्टी के बर्तन, चमड़े के जूते इत्यादि ग्रामीण उद्योगों पर भारी असर पड़ा है।[१७] इन नये उद्योगों के लिए कच्चा माल, बाजार, यातायात की सुविधाएँ, बैंक से ऋण, बिजली आदि सहूलियत की दर पर सरकार मुहैया करतो है, जब कि ऐसी ही वस्तुओं को बनाने के लिए ग्रामोण उद्योगों को कच्चा माल तक भी कई बार उपलब्ध नहीं होता! इन दिनों पशुखाद्य और मुर्गीखाद्य में भी लीव्हर ब्रदर्स जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ घुस गयी हैं।

प्रगति का सही अर्थ—प्रश्न उठता है कि क्या प्लास्टिक और नायलान जैसे नये उद्योग भारत में चलें ही नहीं? क्या भारत प्रगति करे ही नहीं? करोड़ों गरीब लोगों का स्वयं-रोजगार के द्वारा सन्मान के साथ पेट भरनेवाला धन्धा छीनकर चन्द उद्योगपतियों को करोड़पति बनाना ही यदि प्रगति का मापदंड हो और समाजवाद हो, तब बात दूसरी है। अन्यथा प्रगति को परिभाषा में 'पूर्ण रोजगार' प्रमुख तत्त्व हो, तो इन घरेलू उद्योगों को सुविधाएँ देकर प्रोत्साहन एवं संरक्षण दिया जाना चाहिए। आज के प्लास्टिक जैसे उद्योगों की उद्योगक्षमता को जहाजरानी, इलेक्ट्रानिक्स, संचार, रेल्वे, मोटर, हवाई जहाज, विद्युत्-उपकरण जैसे अन्य क्षेत्रों में मोड़ा जाना चाहिए।

एक और उदाहरण लीजिये। सरकार खादी और करघे को कुछ सुविधाएँ देती है, यह उचित है। लेकिन मिलें करघे को लगनेवाला सूत

नहीं बनायेंगी और वह अंबर चरखा बनायेगी, ऐसा करने के बजाय जो ऊनी-कताई आज तक हाथ से चलनेवाले चरखे पर होती है, उसके लिए भी सरकार १९८१ में ऊनी मिलें खोल रही है। आज अंबर का सूत मजबूती, समानता तथा गोलाई में मिल के सूत से मुकाबला करता है। इसलिए वास्तव में अमुक नम्बर के नीचे की कताई हाथ-चरखे के लिए सुरक्षित की जानी चाहिए। उलटे वेस्ट (कचरा) रेशम की कताई के लिए भी मिल खड़ी करने का सरकार ने प्रस्ताव किया है। खादी-कार्यकर्ताओं ने वर्षों मेहनत कर और विज्ञान का सहारा लेकर अंबर चरखा और खराब रेशम की कताई के लिए सक्षम चरखा तैयार किया है। केन्द्रीय रेशम बोर्ड ने इसकी प्रशंसा करते हुए इसे एक 'क्रांतिकारी कदम' बताया है।[१८] तो क्या मध्यम तंत्र-विद्या के आविष्कार उपलब्ध होने पर भी हम अपने देश की बेरोजगारी को हल करने के लिए कोई अन्य मार्ग नहीं खोजेंगे ?

आज आधुनिक उद्योग में एक व्यक्ति को काम देने के लिए ५० हजार से एक लाख रुपयों की पूंजी चाहिए। सीमेन्ट या इस्पात के उद्योग में ५ से १० लाख रुपया चाहिए।[१९] दूसरी ओर एक व्यक्ति को अंबर कताई में काम देने के लिए एक हजार रुपया एवं अन्य उद्योगों में ५ से १० हजार रुपया पर्याप्त है। आधुनिक उद्योगों की तुलना में इन उद्योगों की काम देने की क्षमता भी कई-कई गुनी अधिक है। ३५ वर्ष होने पर भी आधुनिक उद्योग १० प्रतिशत लोगों से अधिक को काम नहीं दे सके और आगे भी २५-५० वर्षों तक यही हालत रहनेवाली है। राष्ट्र की जनसंख्या इस बीच १०० करोड़ से ऊपर चली जायगी। आधुनिक उद्योग सबको काम दे सकते हैं, यह कोरा अंधविश्वास है। अपने देश का ही उदाहरण लीजिये। पंजाब में कोई बड़ा उद्योग नहीं है। छोटे-छोटे उद्योग खूब बढ़ाये हैं। यहाँ बेरोजगारी देशभर में कम-से-कम है। दूसरी ओर बिहार में इस्पात के कारखाने और कई बड़े-बड़े उद्योग हैं।

लेकिन घर-घर उद्योग न पहुँच पाने के कारण बिहार में गरीबी एवं बेकारी भारतभर में सबसे ज्यादा है।

अतः जो माल गाँवों में पैदा हो सकता है, उसे नगरों में कदापि न बनाया जाय। जो वस्तु परंपरागत उद्योगों से पैदा हो सकती है, उस उद्योग के औजारों में सुधार किया जाय, लेकिन उसे बड़े यंत्रों से कदापि न बनाया जाय। सारे नियमों को, मान्यताओं को एवं विघ्नों को हटाकर ये दो नियम पूर्ण-रोजगार के लिए सख्ती से लागू किये जाने चाहिए।

महँगा बनाम सस्ता—कहा जाता है कि परंपरागत उद्योगों का या मध्यम तंत्र-विद्या से बना हुआ माल महँगा पड़ेगा। जैसे, मिल के सूत के मुकाबले अंबर चरखे का सूत २५ प्रतिशत महँगा पड़ेगा। यह बात ऊपर ऊपर से सही लगती है। लेकिन वास्तव में सही है नहीं। क्योंकि आज उत्पादन-व्यय आँकने की पद्धति दोषपूर्ण है। आज सरकार बड़े उद्योगों को खड़ा करने के लिए जमीन, यंत्र, बिजली, ऋण, सस्ता-कच्चा माल, टर्मिनल टैक्स, टोल-टैक्स, चुंगी आदि करों से छूट, रिबेट, निर्यात की सहायता आदि कई सुविधाएँ देती है; तो भी आज कई बड़े उद्योग, जैसे अनेक सूती मिलें 'बीमार'—अलाभकर—हैं। फिर इन बीमारों को अपने हाथ में लेकर सरकार उन पर पुनः करोड़ों रुपया खर्च करती है। इन बड़े उद्योगों से अपर्याप्त बिजली की खपत में और वृद्धि होती है, हवा-पानी दूषित होता है, जंगल उखाड़े जाते हैं। वैसे ही नगरों की घनी बस्तियों में और ज्यादा भरमार होने से शराबखोरी, जुआ और जुर्म बढ़ते हैं, हड़तालों का खतरा पैदा होता है और इन विकृतियों को निबटने में शासन का खर्च और अधिक बढ़ जाता है। सांस्कृतिक हानि होकर नगरों में कृत्रिम अमानवीय समाज पैदा होता है। इन बड़े उद्योगों के कारण पैदा होनेवाली बेरोजगारी और इस पर दिया जानेवाला भत्ता उद्योगों के उत्पादन-खर्च पर चढ़ाया जाय और ऊपर की बातों का सामाजिक सर्वेक्षण कर कीमत आँकी जाय तो ये उद्योग अत्यधिक

महँगे साबित होते हैं। ऊपर जो खर्च बताये गये हैं उन्हें वहन करने के बजाय २०-२५ प्रतिशत सहायता ग्रामोद्योगों को देना सरकार को सस्ता पड़ेगा। इस नीति से समाज में सबको काम मिलने से संतोष रहेगा और तनाव कम होंगे।

सरकार का पक्षपात—आज सरकार गाँवों के छोटे उद्योगों के प्रति सौतेलापन करती है और बड़े उद्योगों के प्रति पक्षपात करती है। २८ मार्च '८१ के 'कामर्स' के अंक में प्रकाशित हुआ है कि सरकार ने एक कम्पनी को ऊपर बतायी हुई कई प्रकार की छूट के अलावा ५७७ एकड़ जमीन एक रुपये के किराये पर ३० साल के लिए दे दी और ढाई करोड़ रुपयों का ऋण रियायती ब्याज की दर पर दिलवाया। हिण्डालको कम्पनी, रेणुकूट को कई वर्षों तक २ पैसे प्रति यूनिट के भाव से बिजली दी जाती रहा, जिसे कुछ दिन पहले १० पैसा किया गया है,[२०] जब कि सामान्य उपभोक्ता के लिए बिजली की दर ३५ से ५० पैसे है। बिड़ला पेपर मिल को लगनेवाला बाँस २ पैसे में एक दिया जाता है, जब कि उसी बाँस की कीमत २ रुपया है।

इसके अलावा सारे ग्रामोद्योग मिल की तुलना में महँगे नहीं होते हैं। आज साबुन-उद्योग, दियासलाई-उद्योग, गुड़-खाँडसारी, मिल की प्रतियोगिता में टिके हुए हैं। लेकिन खुद पैदा किये हुए गन्ने से किसान को सरकार गुड़ बनाने नहीं देती और उन्हें गन्ना सस्ते भाव में मिल को बेचने पर मजबूर करती है। यह है भारत की उद्योग-नीति!

जनता की आवश्यकताओं से संबंध नहीं—भारत की सामान्य जनता की आवश्यकताओं से अनेक बड़े उद्योगों का कोई सबंध नहीं है। अतः इनके पक्के माल को विदेशों में निर्यात करना पड़ता है और इसके लिए सरकार फिर सहूलियतें देती है। इन उद्योगों में मुनाफा भी खूब रहता है और इसलिए संपत्ति का केन्द्रीकरण बढ़ता है। गरीब लोग रेफ्रिजरेटर, एयर-कंडिशनर, टेलीविजन सेट, स्टीरियो प्लेयर, कीमती

सिगरेट, डनलप पिलो कुशन, महँगे सूट एवं प्रसाधन लेकर क्या करेंगे ? गरीब लोगों को चाहिए गल्ला, दाल, सस्ते कपड़े और बच्चों के लिए दूध। इनका उत्पादन बढ़ाने में मुनाफा ज्यादा नहीं मिलता। अतः कौन उद्योगपति इनमें रुचि लेगा ? सूती कपड़े का उत्पादन सन् १९५५-५६ में प्रतिव्यक्ति १४.४ मीटर था, सन् १९७७-७८ में वह १२ मीटर रह गया।[२१] सबको कपड़ा देने में उद्योगपतियों को रुचि नहीं। कपड़ा कम बनाकर, कृत्रिम अभाव पैदा कर, कीमतें बढ़ाकर अधिक मुनाफा कमाने की नीति पर ये चलते हैं। दूसरी ओर स्कूटर का उत्पादन पिछले २० वर्षों में १२ गुना बढ़ा है। ६० प्रतिशत आधुनिक उद्योग बड़े लोगों के विलास के लिए हैं। कहा जाता है कि इस माल को निर्यात कर विदेशी मुद्रा कमायी जायगी। सवाल है कि विदेशी मुद्रा से क्या खरीदा जायगा ? इससे आयात करेंगे यंत्र और कच्चा माल। इनसे फिर बड़े लोगों के मौज-शौक की चीजें तैयार होंगी। सारी उद्योग-नीति एवं आयात-निर्यात-नीति अमीर-वर्ग के हित के लिए योजना करके बनायी गयी है। अतः विलास की चीजों के उत्पादन पर फौरन रोक लगनी चाहिए, क्योंकि इससे श्रम, बुद्धि एवं पूँजी को गलत दिशा मिलती है।

कन्ट्रोल-कोटा, परमिट—खानगी क्षेत्र के उद्योगों को नियंत्रित करने के लिए शासन ने कन्ट्रोल-कोटा, परमिट की पद्धति अपनायी। इससे न खानगी उद्योगों के मुनाफे पर कोई खास नियंत्रण आया, न कोई लाभ हुआ, बल्कि भयंकर लालफीताशाही और भ्रष्टाचार बढ़े हैं और आर्थिक केन्द्रीकरण भी बढ़ा है। सन् १९४७ में टाटा-बिरला के पास ५०-५० करोड़ रुपयों की सम्पत्ति थी। आज हरएक के पास चौबीस गुना यानी १२०० करोड़ रुपयों के निवेश की यानी इनवेस्टमेंट की शक्ति है। इन्हीं कंट्रोल के कारण २ दर्जन औद्योगिक घरानों के पास कुल खानगी पूंजी-निवेश की आधी से ज्यादा शक्ति आज केन्द्रित हो गयी है। इससे लोक-तंत्र भी खतरे में है। इसका कारण स्पष्ट है। कन्ट्रोल-परमिट की बड़ी पेचीदा पद्धति के जाल से लाभ उठाना बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों के

लिए छोटों की तुलना में आसान है। कभी-कभी इन नियंत्रणों के जरिये वस्तु का अभाव न होते हुए भी माल छिपा दिया जाता है, जैसे चीनी का हुआ। इस प्रकार नियंत्रणों से झूठा बनावटी अभाव पैदा किया जाता है, जिससे इन बड़ों को मुनाफाखोरी का मौका मिल सके।

सन् १९८१ की औद्योगिक नीति के सरकारी वक्तव्य ने इन चंद घरानों पर के बंधन निर्यात के नाम पर और ढीले कर दिये हैं और उन्हें पहले से भी अधिक सहूलियतें दी हैं। साथ-साथ बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों के साथ इनके गठबन्धन का मार्ग खोल दिया है। इससे इस राष्ट्र पर विदेशी पूँजी का आर्थिक साम्राज्य और बढ़ गया है। जनता-सरकार ने जिन २०० वस्तुओं का भविष्य का उत्पादन छोटे और घरेलू उद्योगों के लिए सुरक्षित किया था, मौजूदा उद्योग-नीति ने उसे समाप्त कर दिया है[२२] और शोषण का पुराना मार्ग पूर्ववत् चौड़ा कर दिया है।

भ्रम फैलानेवाले उद्योग—आँखों में धूल झोंककर भ्रम फैलाने के लिए ही कुछ उद्योग शुरू किये हैं। इनसे लोगों को धोखे में, भ्रम में रखते हैं, ऐसा सन्देह पैदा होता है। जैसे हरिजन या आदिवासियों को मकान बनाने के लिए सरकारी सहायता देना। यदि इनको पूरा रोजगार मिले और उनका शोषण न हो, तो अपनी आय से ये अपने घर खुद ही बना लेंगे। सदियों से सब लोग अपना घर सारी दुनियाभर में खुद की कमाई से बनाते ही आये हैं।[२३] लेकिन इन्हें काम देने के बदले इनके लिए घर बनाकर या सहायता देकर सरकार इन्हें पंगु बनाती है। इसके साथ-साथ वह ऐसा भ्रम फैलाती है कि सरकार हमारे प्रश्न सुलझायेगी। ऐसा करके सरकार पूर्ण रोजगार के मुख्य प्रश्न से इन लोगों का ध्यान हटा देती है। शासन करनेवाला हर दल ऐसा अनुचित राजनीतिक लाभ उठाता है। खादी-ग्रामोद्योग का भी ऐसा ही कुछ हाल है। बड़े उद्योगों से इन्हें संरक्षण दिये बिना खादी-ग्रामोद्योगों को कुछ टुकड़े फेंकने का मतलब और क्या होता है? अतः कपड़ा, तेल, जूते, अनाज-प्रशोधन,

साबुन, गुड़-खाँडसारी आदि उद्योग देहाती क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखे जाने चाहिए। नहीं तो खादी और ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में लगे कार्यकर्ताओं को सारी स्थिति पर पुनर्विचार करने का समय आ गया है।

सरकारी क्षेत्र के उद्योग—सरकारी क्षेत्र को गलती से 'पब्लिक सेक्टर' या सार्वजनिक क्षेत्र कहने का रिवाज पड़ गया है। इनका हाल भी खानगी क्षेत्र जैसा ही दोषपूर्ण है। स्वराज्य के आने पर जनता के मन में ऐसा भोला विश्वास पैदा हो गया था कि उद्योगों का सरकारीकरण करने से समाजवाद अपने-आप आ जायगा, हुआ इससे उलटा। न इनके कारण आर्थिक समता आयी और न कर्मचारियों की आपसी विषमता कम हुई। खानगी उद्योगों में बड़े अधिकारियों में और छोटे कर्मचारियों में जो वर्गभेद हैं. वही यहाँ भी है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने ठीक ही कहा है कि भारत में सरकारी क्षेत्र ने खानगी क्षेत्र के लिए बिजली, सिंचाई, सड़कें आदि इन्फ्रास्ट्रक्चर यानी नीचे का ढाँचा सरकारी खर्चे से तैयार कर इनकी मुफ्त सेवा कर दी है। अन्य देशों में खानगी क्षेत्र को वह सब करना पड़ता है। इनमें से ज्यादातर उद्योगों में कार्यक्षमता नहीं है। वे हर साल घाटे में रहते हैं। गत वर्ष ७५ करोड़ रुपयों का इनमें घाटा है, जिसका बोझा करदाता पर पड़ता है। कभी-कभी इनके माल की कीमत बढ़ाकर घाटा खतम हो गया—ऐसा बताया जाता है, जैसा अभी इस्पात-उद्योग में हुआ। इन्हें 'सार्वजनिक उद्योग' कहा जाता है, लेकिन जनमत का उन पर कोई प्रभाव या दबाव नहीं पड़ता। इसलिए अत्यावश्यक केवल उतने ही उद्योग सरकारी क्षेत्र में रहने चाहिए, जिनकी निर्णय-प्रक्रिया में कर्मचारियों का सहभाग हो और जिन पर जनता ऐसा नियंत्रण रखे कि वे आदर्श बन सकें। इससे खानगी उद्योगों के सामने ये नमूने के रूप में रखे जा सकते हैं।

गांधीजी की तीसरी पद्धति—गांधीजी ने अखिल भारत चरखा संघ एवं ग्रामोद्योग संघ की स्थापना कर अपने 'ट्रस्टीशिप' सिद्धांत का एक

अनुपम उदाहरण पेश किया। उद्योग की मालिकी किसी व्यक्ति की नहीं, ट्रस्ट की होती है। यह ट्रस्ट जनता के हित के लिए काम करता है। उद्योग का मुनाफा कर्मचारी आपस में नहीं बाँट सकते और गांधीजी के निर्णय के अनुसार २० प्रतिशत से अधिक व्यवस्था-खर्च नहीं ले सकते। पिछले ५५ वर्षों में आज तक इसका उल्लंघन नहीं किया गया। १ लाख देहातों में यह संघ विकेन्द्रित स्वतंत्र संस्थाओं को स्वतंत्र बनाकर काम करता रहा है। कताई की दर, बुनाई की दर और कपड़े की कीमत तय रहती है। इतना बड़ा और ट्रस्टीशिप के सिद्धांतों पर चलनेवाला शायद ही कोई सहकारी समितिनुमा संगठन दुनिया में होगा। इन संस्थाओं के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का सर्वत्र अनुकरण होना चाहिए। ●

६. शिक्षा

विस्तार—'सा विद्या या विमुक्तये' जो मानव को मुक्त करती है—उसका नाम विद्या है। पुरातन काल में इन शब्दों द्वारा शिक्षा की महिमा गायी गयी है। भारत में स्वराज्य के बाद शिक्षा का काफी विस्तार हुआ है। आज देश में ७ लाख विद्यालय चल रहे हैं, जिनमें १० करोड़ विद्यार्थी पढ़ते हैं। उन्हें पढ़ाने के लिए ३५ लाख शिक्षक हैं। शिक्षा पर २,५०० करोड़ रुपया खर्च हो रहा है। इस प्रकार इन ३५ वर्षों में शिक्षा का कई गुना विस्तार हुआ है।[२४]

संख्यात्मक कमियाँ—लेकिन इन बड़े-बड़े आँकड़ों के पीछे जाकर देखें तो कई चौंकानेवाली कमियाँ नजर में भरेंगी।

१. शिक्षण अधूरे में छोड़े हुए विद्यार्थी—आज की यह शिक्षा उच्च श्रेणी के लोगों के लिए है, जिनकी संख्या केवल २० प्रतिशत है। बचे हुए

८० प्रतिशत लोगों में से केवल २ प्रतिशत लोगों को इसका लाभ मिलता है। प्रारंभ में ही २० प्रतिशत बच्चे प्राथमिक शाला की प्रथम कक्षा में ही भरती नहीं होते, क्योंकि वे भरती नहीं हो सकते। धनोपार्जन का और शिक्षा का कोई संबंध न होने से गरीबों के बच्चे विद्यालय में कैसे भरती होंगे? सामाजिक कारणों से भी वे भरती नहीं हो सकते। इस प्रकार औपचारिक यानी विद्यालयीन शिक्षा-पद्धति ने इन्हें शिक्षा से पूर्ण रूप से वंचित कर दिया है। जो ८० प्रतिशत भरती होते हैं उनमें से आधे बच्चे ५वीं कक्षा तक छूट जाते है, क्योंकि इस शिक्षा में कमाने का तत्त्व नहीं है। ८वीं कक्षा तक और २५ प्रतिशत छूट जाते हैं। १२वीं कक्षा तक १० प्रतिशत और छूट जाते हैं। ये लोग पढ़ाई से छूट जाते हैं ऐसा कहने के बजाय यह कहना ठीक होगा कि आय से शिक्षा का कोई संबंध न होने के कारण शिक्षा-पद्धति उन्हें खुद छोड़ देती है। बचे हुए १५ प्रतिशत में से केवल १,-२ प्रतिशत को डिग्री मिलती है। अर्थात् यह पद्धति अत्यन्त उडाऊ यानी अपव्ययी है, कारण ९९ प्रतिशत विद्यार्थियों को वह दूर फेंक देती है। नीचे की तालिका से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है—

शिक्षण छोड़े हुए विद्यार्थियों का प्रतिशत

प्रथम कक्षा में भरती	५वीं कक्षा तक छोड़े गये	८वीं कक्षा तक छोड़े गये	१२वीं कक्षा तक छोड़े गये	स्नातक तक छोड़े गये
१००	५०	७५	८५	९९

२. **उलटी मीनार**—राष्ट्र के भविष्य की दृष्टि से प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा बुनियादी है। भारतीय संविधान में ४५वें अनुच्छेद में कहा गया है कि १० साल के भीतर ११ साल तक के उम्र के बच्चों को राष्ट्र निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने का प्रबंध करेगा। सन् १९६० तक यह कार्य पूरा होना चाहिए था। इस समय मर्यादा के बाद आज

२२ साल बीत गये हैं और अभी वहाँ तक हम पहुँच नहीं पाये। राष्ट्र के पितामह दादाभाई नौरोजी ने प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क एवं अनिवार्य करने की बात सन् १८८१ में कही थी। एक शतक बीत गया और हम अभी वहाँ तक नहीं पहुँचे। प्राथमिक शिक्षा पर खर्च कम होता है, उच्च शिक्षा पर एवं संशोधन-संस्थाओं पर अपेक्षाकृत अधिक खर्च होता है। हमारे देश में शिक्षा-क्षेत्र में सामान्य जनता को शिक्षा में प्राथमिकता नहीं दी गयी। उच्च वर्ग के लिए शिक्षा को प्राथमिकता दी गयी। बुनियाद पर अधिक खर्च करने के बजाय हम कलश पर अधिक खर्च कर रहे हैं। अतः भारतीय शिक्षा-पद्धति उलटी मीनार है।

३. साक्षरों का कम प्रतिशत—विद्यालयों के विस्तार से साक्षरता का प्रतिशत सन् १९८१ में ३६ तक पहुँचा है। पाठशाला में जाने योग्य उम्र के समूह को लें तो यह प्रतिशत ४२ होगा। यानी ५८ प्रतिशत व्यक्ति आज भी निरक्षर हैं, जिन्हें विद्यालयीन शिक्षा का स्पर्श ही नहीं है। महिलाओं की शिक्षा का परिमाण तो और भी कम है। केवल २७ प्रतिशत महिलाएँ और ५७ प्रतिशत पुरुष साक्षर हैं। ग्रामीण क्षेत्र में और पिछड़ी हुई जातियों में साक्षरता का यह परिमाण और भी कम है।

साक्षरता का प्रतिशत

विवरण	पुरुष	महिलाएं	कुल
१. राष्ट्रीय साक्षरता	५७	२७	४२
२. शहरी क्षेत्र	७९	५७	६९
३. ग्रामीण क्षेत्र	५०	१९	३४
४. अनुसूचित जाति एवं हरिजन	२२	६	१५
५ आदिवासी	१८	५	११

साक्षरता में क्षेत्रीय असंतुलन भी है। केरल में साक्षरता का परिमाण

६० से ऊपर है। सबसे कम प्रतिशत है हिन्दीभाषी प्रदेशों में यानी बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश में। आज प्राथमिक कक्षा में भरती होनेवालों की संख्या में प्रतिवर्ष ११ लाख की वृद्धि होती है। वृद्धि की यह दर प्रतिवर्ष ५२ लाख हुए बिना अगले १० सालों में भी संविधान के अनुच्छेद ४५ का पालन नहीं होगा। प्राथमिक शाला में भरती न होनेवाले उन बच्चों को साक्षर बनाने का काम तो और भी कठिन है, जो गरीब एवं पिछड़ी जातियों के हैं, जिन्हें कमाये बिना चारा नहीं है।

४. मुख्य दुष्परिणाम—शिक्षा से जनता को वंचित रखना—आज की शिक्षा-पद्धति जनता को शिक्षित करने के लिए है, यह कहना गलत है। ऊपर के आँकड़ों से सिद्ध होता है कि यह शिक्षा-पद्धति जनता को शिक्षा से वंचित रखने के लिए गढ़ी गयी है। आज की शिक्षा-पद्धति का प्राथमिक उद्देश्य यही है कि उसे प्राप्त करके लोग सुविधाप्राप्त वर्गों में रह सकें या प्रवेश पा सकें। ऐसे ही व्यक्तियों का वह चयन करती है। यह काम भी शिक्षा-पद्धति पक्षपात के बिना नहीं करती, क्योंकि जो आज सुविधाप्राप्त वर्गों में हैं, उन्हें उसी वर्ग में रहने देने का कार्य यह करती है। सुविधा से वंचित वर्गों को यह आगे बढ़ने ही नहीं देती है। एकाध अपवाद की बात दूसरी है। यह भी धीरे-धीरे गुण के बजाय संयोग पर हो रहा है। इसलिए इस पद्धति ने सामान्य लोगों के करोड़ों बच्चों को शिक्षा-क्षेत्र में या तो प्रवेश ही नहीं करने दिया या फिर अनुत्तीर्ण करके नीरस और कड़े मशक्कत के कामों में और गरीबी में हमेशा के लिए ढकेल दिया है। यही इसका मुख्य दुष्परिणाम है।[२५]

गुणात्मक खामियाँ—१. उद्देश्यहीनता—उद्देश्यहीन शिक्षा नौकरियाँ नहीं दिलाती। यदि शिक्षा उद्देश्ययुक्त होती तो इन ३५ वर्षों में राष्ट्र में से दैववाद एवं अंधश्रद्धा करीब-करीब मिट जानी चाहिए थी और धंधों की परंपरागत पद्धति में मूलभूत परिवर्तन हो जाना चाहिए था। परन्तु ऐसा क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि हमारी शिक्षा उद्देश्यहीन है। विद्यार्थियों में

राष्ट्रीयता या मानवता के विचार एवं भावनाएँ वह भरती ही नहीं। बहुत से विद्यार्थी पढ़ाई समाप्त होने पर नौकरी करने के अलावा कुछ करने के लायक या कमाने के लायक नहीं रह जाते हैं। शासन का कामकाज सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ पढ़े-लिखे बाबू तैयार करने के यंत्र के रूप में मेकॉले ने सन् १८४८ में आज की शिक्षा-पद्धति शुरू की थी। मूल रूप से वही आज चल रही है। नौकरियाँ सबको मिल नहीं सकतीं, इसलिए वह न नौकरी दिलाती है, न ज्ञान। फिर मुक्ति की तो कोई बात ही नहीं! शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बढ़ते-बढ़ते ७२ लाख से ऊपर सरकारी रजिस्टरों में दर्ज है।[२१]

२. **ज्ञान नहीं**—शिक्षा में दूसरी खामी यह है कि राष्ट्र की आवश्यकताओं से शिक्षा-पद्धति का कोई संबंध नहीं है। व्यक्ति व्यावहारिक ज्ञान से पूर्ण हो, वह काम में कुशलता प्राप्त करे, वह डटकर काम करे एवं उत्तम नागरिक हो,—यह राष्ट्र की आवश्यकता है। लेकिन हमारी शिक्षा सैद्धान्तिक ज्यादा है, व्यावहारिक कम। एक कृषि-स्नातक को कॉलेज में सप्ताहभर में तीन-चार घंटे खेत पर काम करना पड़ता है और ज्यादातर यह काम विद्यार्थी खेत के कर्मचारियों द्वारा करवाता है। उसका थोड़ा-सा समय प्रयोगशाला में जाता है, बाकी सारी पढ़ाई सैद्धांतिक है, जो कि चार दीवालों से घिरे हुए कमरों में होती है। पढ़ाई में इंग्लैण्ड-अमेरिका की परिस्थितियों से विद्यार्थी का अधिक संबंध रहता है, भारतीय परिस्थिति से कम। शिक्षा पूर्ण करने तक की १५ साल की लंबी अवधि तक धूप, ठंडक और बारिश का जिसके शरीर को नाममात्र स्पर्श हुआ, ऐसा यह कृषि-स्नातक १५ साल बाद खेत में डटकर काम करने की परिस्थिति में अपने को कैसे पायेगा? इंजीनियरिंग, मेडिकल, कॉमर्स, जंगल, खदान इत्यादि की पढ़ाई का करीब-करीब यही हाल है। ज्यादातर विद्यार्थी आर्टस् के यानी भाषा, कला, दर्शन आदि के होते हैं। यह सारी पढ़ाई पूर्ण रूप से सैद्धांतिक है।

पचास साल पहले महात्मा गांधी ने राष्ट्र को नयी तालीम की शिक्षा-पद्धति की सिफारिश की थी। सरकारों ने उस पर आधे मन से प्राथमिक शालाओं में अमल किया यानी उसका वानरीकरण किया। कोठारी शिक्षा-कमीशन में १२ साल पहले कार्यानुभव के नाम से नयी तालीम का सार रखा था और १०+२+३ के सूत्र की सिफारिश की थी। ज्यादातर विद्यालयों में इसके क्रियान्वयन के गंभीर प्रयत्न ही नहीं किये गये। शासन ने न इन विद्यालयों को कार्यानुभव के लिए पर्याप्त साधन दिये, न ऐसा आग्रह रखा कि प्रत्यक्ष में यह होना चाहिए। हर स्नातक या मैट्रिक्युलेट सालभर गाँवों में जाकर भारत का ज्ञान प्राप्त करे और सेवा करे, यह प्रस्ताव बार-बार स्वीकार किये जाने पर भी आज तक उस पर अमल नहीं हुआ। अब फिर यही बात कही जाने लगी है।

३. **अंग्रेजी माध्यम**—ज्ञान का माध्यम, खासकर उच्च शिक्षा में, आज भी अंग्रेजी है। विदेशी भाषा द्वारा दुनिया में कहीं भी उच्च शिक्षा नहीं दी जाती। इजराइल जैसे छोटे राष्ट्र ने, जिसके नागरिक विभिन्न भाषाभाषी पचास-सौ राष्ट्रों से आये थे, उस इजराइल ने १०-१५ वर्षों में हिब्रू जैसी मृत भाषा जिन्दा कर, उसमें पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित कर, सारी आधुनिक विद्या उस भाषा द्वारा देने की व्यवस्था की। इधर हमारे देश में जहाँ १५ विकसित भाषाएँ हैं और कई राष्ट्रीय विद्यापीठों में और महाविद्यालयों में स्वराज्य के पूर्व मातृभाषा माध्यम का सफल प्रयोग हो चुका है वहाँ इन दिनों घड़ी के काँटे पीछे घुमाये जा रहे हैं। पिछले वर्षों में जहाँ कहीं, जैसे महाराष्ट्र और गुजरात में, मातृभाषा के माध्यम द्वारा पढ़ाई शुरू हुई थी, वहाँ भी अंग्रेजी द्वारा पढ़ाई करने की माँग जोर पकड़ रही है। पश्चिम बंगाल में प्राथमिक शालाओं में अंग्रेजी पढ़ाने पर जोर दिया जा रहा है। नगरों में कॉन्वेंट बढ़ रहे हैं। विद्यार्थियों की बुनियाद अंग्रेजी माध्यम द्वारा होने के कारण बहुत-से विद्यार्थी ज्ञान में कच्चे रहते हैं।

४. **समग्र विकास नहीं**—आज की शिक्षा बौद्धिकता पर जरूरत से

ज्यादा जोर देती है। कार्य-कुशलता एवं मूल्यों से इसे कोई वास्ता नहीं। आज के विद्यार्थी को विद्यार्थी कहने के बजाय परीक्षार्थी कहना ज्यादा उचित होगा। परीक्षा-पद्धति केवल पुस्तकी पढ़ाई, रटाई आदि पर और पर्चे में दो-तीन घंटों में सालभर की पढ़ाई उगलने पर जोर देती है। येन केन प्रकारेण परीक्षा पास करना ही इसका उद्देश्य है; विद्या यानी ज्ञान प्राप्त करना नहीं। ट्यूशन की और 'गाइडस्'—परीक्षा पास करने की कुंजियों की भरमार क्या सिद्ध करती है ? ये विद्यार्थी को विचार करना और खुद ज्ञान प्राप्त करना नहीं सिखातीं। इनसे न व्यक्तित्व का विकास होता है, न ये सामाजिक परिवर्तन के लिए मददरूप हैं। उलटे ये स्नातक को शेष समाज से अलग कर देती हैं, क्योंकि विद्याध्ययन की लंबी अवधि में वह अपने परिवेश से कट जाता है और तथाकथित आधुनिक फैशनपररत जीवन-पद्धति को स्वीकार कर लेता है। शिक्षितों का एक नया वर्ग बन जाता है, जिसे राष्ट्र की परिस्थिति से कोई मतलब नहीं। १८वीं सदी में उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति और शेष समाज के बीच जितनी चौड़ी खाई थी, उससे बहुत ज्यादा चौड़ी खाई आज के शिक्षित और शेष समाज के बीच शिक्षा ने पैदा की है।

५. आगे भी ज्ञानोपार्जन नहीं—एक बार विद्यार्थी यदि स्कूल छोड़ देता है या पढ़ने नहीं जाता तो फिर आगे उसके लिए ज्ञान प्राप्त करने की या ज्ञान को बढ़ाने की कोई व्यवस्था आज की शिक्षा-पद्धति में नहीं है। यानी प्रौढ़-शिक्षा की कोई व्यापक व्यवस्था नहीं है। सरकारी योजनाओं में प्रौढ़-शिक्षा पर किये जानेवाले खर्च की तालिका इस प्रकार थी—

विवरण	**पहली योजना**	**दूसरी योजना**	**तीसरी योजना**	**चौथी योजना**	**पाँचवीं योजना**
पूगी शिक्षा—करोड़ रु०	१५३	२७३	५९८	७८६	१२८६
प्रौढ़-शिक्षा— ,,	५	४	३	४	१८
प्रौढ़-शिक्षा पर खर्च का प्रतिशत—	३.३	१.५	०.५	०.६	१.४

सन् १९७८ में शासन ने व्यापक प्रौढ़-शिक्षा का कार्यक्रम प्रारम्भ किया और १० वर्षों में १५ से ३५ साल की उम्र के सब प्रौढ़ों को यानी १० करोड़ लोगों को शिक्षित कर प्रौढ़ों की निरक्षरता मिटाने का संकल्प किया। यह योजना बड़े उत्साह से शुरू हुई। प्रौढ़-शिक्षा के कार्यक्रम में केवल साक्षरता नहीं, प्रौढ़ों की चेतना जागृत करना और उनकी कर्म-कुशलता बढ़ाना भी उसमें शामिल था। गत वर्ष नये शासन ने इसे काफी पतला बनाकर इस पर का जोर कम कर दिया। अतः १० साल में ३५ साल के नीचे के सब प्रौढ़ों को साक्षर बना देंगे,—यह संकल्प फिर से स्वप्न बन गया है। इसका राष्ट्र पर स्थायी असर होगा।

परिणाम—विद्यार्थी अभिशाप बन गये हैं! ऊपर की खामियों के कारण अधकच्ची शिक्षा-प्राप्त ये विद्यार्थी परीक्षाओं में नकल करते हैं। शिक्षा के चलते और शिक्षा पूरी होने पर विद्यालयों में और बाहर तोड़-फोड़ करते हैं, ऊधम मचाते हैं और संकुचित, स्वार्थी बनकर बाहर निकलते हैं। आज विद्यालयों में अनुशासनहीनता आम बात है। अनेक विश्वविद्यालय इन कारणों से लम्बे समय तक बन्द रहते हैं और युवक समाज के लिए वरदान बनने के बजाय कई जगह सिर-दर्द बन गये हैं। अध्यापक भी अधिकाधिक ट्यूशन और विश्वविद्यालयों के परचे जाँचने का काम खोजते रहते हैं। अनेक प्राथमिक शालाओं में, गाँवों में वे विद्यालय में हाजिर भी नहीं रहते।

सच्ची शिक्षा-पद्धति—हमें अपनी शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करना होगा। जीवन जीते-जीते शिक्षा मिलनी चाहिए और जीवन के द्वारा शिक्षा मिलनी चाहिए। जीवन का काम से, समाज से और प्राकृतिक परिस्थिति से सम्बन्ध है। अतः ज्ञान और कर्म का समवाय हो और परिस्थिति के साथ ज्ञान का अनुबन्ध हो, ऐसी शिक्षा-पद्धति चलानी होगी। काम के द्वारा ज्ञान, इस सूत्र को ध्रुव तारा बनाना होगा। विद्यार्थी की सारी शक्तियों का समग्र विकास हो यानी उसकी शारीरिक,

८. शिक्षा-व्यवस्था को केन्द्रीकरण की जकड़न से एवं एकरूपता से मुक्त करना होगा। शिक्षा को विकेन्द्रित कर हर स्तर पर उचित अधिकारी पर जिम्मेवारी सौंपनी होगी। विद्यालयों के संचालन में शिक्षक, विद्यार्थी एवं अभिभावक को शामिल करना होगा और विद्यालयों में स्वतन्त्रता की हवा बहने देनी होगी। उच्च विद्यालयों को तरह-तरह के प्रयोग करने की इजाजत देनी होगी।

९. कोई भी व्यक्ति बिना विद्यालय में भरती हुए परीक्षा में बैठ सकता है, ऐसी सुविधा करनी होगी। इसके लिए केन्द्रीय सरकार मुक्त विद्यालय की योजना प्रारम्भ करने की बात सोच रही है। यानी आज के किसी विद्यालय में भरती हुए बिना पत्राचार के पाठ्यक्रम द्वारा मुक्त विद्यालय में शिक्षा दी जा सकती है।

१०. प्राथमिक और प्रौढ़-शिक्षा पर अधिक व्यय करना होगा और ऊपर के वर्ग के विद्यार्थियों से अधिक फीस लेकर उच्च शिक्षा पर का सरकारी खर्च कम करना होगा। इससे आज की असंतुलित शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन होगा और मीनार सीधी होगी। इसलिए नये कॉलेज और विद्यापीठ खोलने पर रोक लगानी होगी।

११. मौजूदा विद्यालयों का स्तर ऊँचा करने में अपनी शक्ति लगानी होगी। इसलिए पाठ्यक्रमों में परिवर्तन करके उनमें व्यावहारिकता लानी होगी। तोतारटंत के स्थान पर विद्यार्थी खुद सोच सकें, ज्ञानोपार्जन कर सकें और जीवन की चुनौतियों का सामना कर सकें, —ऐसा वातावरण बनाना होगा। विद्यालयों का कृषि से एवं उद्योगों से सम्बन्ध जोड़नेवाली कड़ियाँ बनानी होंगी, जिससे कि दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से शिक्षा माँग के अनुसार बने।

यह कौन करेगा? शिक्षा का संकट हमारी राष्ट्रीय असफलता है। ये कदम केवल आज की शिक्षा-पद्धति में से नहीं उठेंगे, क्योंकि वह बड़ी मात्रा में निहित स्वार्थ का अड्डा बन गयी है। राष्ट्रपति से लेकर राह

चलते नागरिक शिक्षा में परिवर्तन की बात करते हैं, लेकिन होता कुछ नहीं। अतः आज की शिक्षा-पद्धति के दोष और नयी शिक्षा के परिवर्तनों के बारे में औपचारिक विद्यालयों के बाहर से लोकमत जगाकर जन-आन्दोलन चलाना होगा। इस काम में सब राजनीतिक दलों की सहमति प्राप्त करने का भी प्रयत्न करना होगा। ऐसे आन्दोलन में उच्च शिक्षा पानेवाले कई विद्यार्थी भी सहयोग देंगे। आज की शिक्षा-पद्धति अपना स्वत्व खो चुकी है। उसे बदलने में देरी करना करोड़ों युवकों के जीवन के साथ एवं राष्ट्र के भविष्य के साथ खिलवाड़ करना होगा। ३१ वर्षों तक यह चली। अब कब तक चलती रहेगी? ●

७. आरोग्य

उपलब्धियाँ—पिछले सौ सालों में चिकित्सा-विज्ञान ने कुछ बातों में अच्छी प्रगति की है। उसके चलते भारत ने पिछले तीस वर्षों में प्लेग और चेचक को समाप्त कर दिया है और मलेरिया पर काफी नियंत्रण पाया है, हालाँकि मलेरिया इन दिनों फिर से होने लगा है। चिकित्सा के नीचे के ढाँचे का भी कुछ फैलाव हुआ है—

वर्ष	आयुर्मान	मृत्यु-दर (१००० पीछे)	जन्म-दर (१००० पीछे)
१९५१	३२ वर्ष	२७	४०
१९७८	५४ वर्ष	१४	३३

कमियाँ : १. आरोग्य की उपेक्षा—आरोग्य रहे तो कोई बीमारी ही न हो। जहाँ आरोग्य समाप्त होता है, वहाँ दवाइयों का प्रश्न आरम्भ होता है। दुर्भाग्य से भारत में बीमारियों को ठीक करने की ओर जितना

ध्यान दिया जाता है, उतना आरोग्य पर नहीं। आज की भारत की आरोग्य-पद्धति केन्द्रित है। वह अस्पतालों पर जरूरत से ज्यादा जोर देती है। वह खर्चीली, विशेषज्ञपरस्त और पश्चिम के विकसित देशों की अंधी नकल है। स्वास्थ्य का ८० प्रतिशत बजट अस्पतालों पर खर्च होता है, जब कि आरोग्य-प्रतिबन्धक उपायों की घोर उपेक्षा होती आयी है। केवल शुद्ध जल और सफाई का प्रबन्ध होने से भारत के ८० प्रतिशत रोग उत्पन्न ही नहीं होंगे, ऐसा इस विषय के विशेषज्ञों का कहना है।[२७] फिर भी अधिकांश जनता को ये सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। भोजन बनाते समय भोजन के गुण नष्ट न हों, इसका ख्याल रखा जाय तो भोजन में पाये जानेवाले तत्त्व नष्ट नहीं होंगे। उदाहरण के लिए, चावल को कूट-कूटकर सफेद करना और मल-मलकर धोना और पकाते समय माँड या तेज पकाने से उसकी काफी शक्ति नष्ट हो जाती है। गेहूँ को बहुत महीन पीसने से और चोकर को अलग करने से गेहूँ की शक्ति घटती है, और उसकी रोटी भी देर से हजम होती है और मलावरोध भी होता है।[२८] इस प्रकार के आरोग्य-विषयक ज्ञान का एवं व्यायाम के महत्त्व का, आसन एवं योग का देशभर में प्रसार किया जाना चाहिए। आरोग्य-सम्बन्धी ऐसी बातों का प्रचार-प्रसार न करना यह कमी मानी जायगी।

२. सामान्य रोगों पर ध्यान कम—हमारे देश में विकसित देशों में होनेवाले रोगों पर यानी भारत में अमीरों को बहुतायत से होनेवाले रोगों पर अधिक खर्च किया जाता है और सामान्य आदमी को होनेवाले रोगों पर कम खर्च किया जाता है। उदाहरण के लिए हृदयरोग, रक्तचाप, मधुमेह इत्यादि रोगों पर सरकार का अधिक ध्यान है। लेकिन अॅनीमिया, रक्त की कमी, अतिसार, चर्मरोग, स्त्रियों के सामान्य रोग आदि पर कम ख्याल है।

३. नगराभिमुख एवं डॉक्टराभिमुख पद्धति—भारत में डॉक्टरों की

संख्या परिचारिकाओं से अधिक है। भारत में डॉक्टर-परिचारिका का अनुपात २.५ : १ है। स्वीडेन में वह अनुपात १ : ३ है। एक विद्यार्थी को डॉक्टरी की शिक्षा देने के लिए एक लाख रुपये खर्च आता है, और यह खर्च करीब-करीब पूरा समाज देता है। इन डॉक्टरों में से ८० प्रतिशत डॉक्टर २० प्रतिशत जनसंख्यावाले नगरों में काम करते हैं। और केवल २० प्रतिशत डॉक्टर ८० प्रतिशत जनसंख्यावाले गाँवों को मिल पाते हैं। अस्पतालों में ९० प्रतिशत खाटों की व्यवस्था नगरों में है। भोर-समिति ने सन् १९४६ में २०,००० जनसंख्या के लिए एक प्राथमिक आरोग्य-केन्द्र की सिफारिश की थी। उसके ३६ वर्ष बाद आज भी एक लाख जनसंख्या के देहातों के पीछे ऐसा एक केन्द्र है और उसमें भी पूरे कर्मचारी रहते नहीं। यहाँ पर सालभर के लिए १२,००० रुपये की दवाइयाँ मिलता हैं, यानी प्रतिव्यक्ति १२ पैसे हुए। उसमें भी भ्रष्टाचार एक बड़ा हिस्सा खा जाता है। अतः गरीब देहाती को यह सेवा कहाँ तक उपलब्ध होती है, यह चिन्ता का विषय है। दूसरी ओर चीन में सन् १९५० में ही लक्ष्यांक रखा गया कि माता अपने बीमार बच्चे को गोद में लेकर गरमी की धूप में जितनी दूर चल सकती है, ज्यादा-से-ज्यादा उतनी दूरी पर आरोग्य-सेवक उपलब्ध होना चाहिए।[२९]

४. अति महँगी दवाइयाँ और सेवाएँ—दवाइयाँ बहुत महँगी हैं। इनकी कीमत उत्पादन-खर्च से कई गुना ज्यादा होने से दवा की कम्पनियाँ अन्धाधुन्ध मुनाफा कमाती हैं। अधिक लोगों को सस्ती दवाइयाँ बेचकर कम मुनाफा कमाने के बजाय थोड़े से लोगों को कम दवाइयाँ अधिक कीमत में बेचकर अधिक मुनाफा कमाया जाता है। उदाहरण के लिए, क्लोरमफेनिकोल की लागत १३३ रुपया प्रति किलोग्राम थी और उसकी खुदरा कीमत ३,०५० रु० है।[३०] २,३०० दवा बनानेवाली कम्पनियों का कुल उत्पादन ३७० करोड़ रुपयों का था, जिनमें से ११० बड़ी एकाधिकार कम्पनियाँ २९६ करोड़ रुपयों की

दवाइयाँ बनाती थीं। इनमें से २८ विदेशी थीं और उनका उत्पादन ४० प्रतिशत था।[31] आज २० प्रतिशत ऊपर का वर्ग ८० प्रतिशत औषधियाँ खरीदता है, क्योंकि गरीबों के पास खरीदने के लिए पैसे ही कहाँ ? और उत्पादन का संबंध आवश्यकता से नहीं, माँग से यानी क्रयशक्ति से है। खानगी डॉक्टर शहरों में रहते हैं और उनकी ऊँची फीस गरीब आदमी के बूते के बाहर है।

५. **अल्पकालीन शिक्षा आवश्यक**—मेडिकल कॉलेज में जो लम्बे समय की शिक्षा दी जाती है, उससे विशेषज्ञ तैयार होते हैं। जनसाधारण के लिए इस शिक्षा की जरूरत नहीं। ८० प्रतिशत रोग सामान्य रोग हैं, जिन्हें साल, दो साल का प्रशिक्षण पानेवाला आरोग्य-सहायक और छः माह का प्रशिक्षण पानेवाला आरोग्य-सेवक मिटा सकता है। ये सेवक एवं सहायक जटिल रोगों के वास्ते रोगी को डॉक्टर के पास ले जा सकते हैं।

इस प्रकार कम खर्च में आरोग्य-योजना गाँव-गाँव होगी और डॉक्टर का कीमती समय सामान्य रोगों की देखभाल में खर्च नहीं होगा। वैसे ही परिचारिकाओं को प्रशिक्षित कर वे गाँव की परंपरागत दाइयों का प्रशिक्षण कर सकते हैं। परिचारिकाएँ एवं दाइयाँ प्रसूतिपूर्व योजना, प्रसूति, परिवार-नियोजन, बच्चों को परवरिश, आहार, मलेरिया-नियंत्रण, इनॉकुलेशन, रोग-प्रतिबन्धक टीके लगाना आदि काम कर सकती हैं। इन पर डॉक्टरों की तुलना में खर्च भी कम आयेगा। जाली और कोंग के हिसाब के अनुसार एक रोग की चिकित्सा का औसत खर्च[32] इस प्रकार आता है—

स्थान	खर्च
(१) प्राथमिक आरोग्य केंद्र	३ रुपया
(२) जिला अस्पताल में	६३ ,,
(३) प्रदेश की राजधानी के अस्पताल में	१२७ ,,
(४) राष्ट्रीय अस्पताल में	२७२ ,,

जनता को ज्यादा-से-ज्यादा डॉक्टरों पर एवं दवाइयों पर अवलंबित बनाना आरोग्य-पद्धति का लक्ष्य हो या उन्हें आरोग्य का शिक्षण देकर अपने पैरों पर खड़ा करना लक्ष्य हो, मेडिकल कॉलेजों में 'प्रतिबन्धक एवं सामाजिक चिकित्सा' विभाग को घटिया दर्जे का माना जाता है। अच्छे-से-अच्छे बुद्धिमान् डॉक्टरों को उसमें भरती करने के बजाय अन्य जगहों से अस्वीकृत, कम बुद्धिवाले डॉक्टर इस विभाग में आते हैं।[३३] वास्तव में यह विभाग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वैसे ही रोग-प्रतिबन्ध पर अधिक खर्च करने के बजाय उसकी तुलना में भारत में रोग-निवारण पर तिगुना खर्च शासन करता है।

६ एलोपैथी का बोलबाला—आज भारत में एलोपैथी का ही बोलबाला है। यहाँ की पुरातन चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा और बाहर से आयी हुई यूनानी, होमिओपैथी पद्धतियाँ एलोपैथी की तुलना में सस्ती हैं और कई बीमारियों में अधिक कारगर भी हैं। प्राकृतिक चिकित्सा तो एक जीवन-पद्धति ही है। आरोग्य में उसका खास महत्त्व है। इन सारी पद्धतियों पर सरकार का खर्च केवल १० प्रतिशत होता है। क्या यह रुख वैज्ञानिक और गरीब जनता के लिए हमदर्दी का लक्षण है?

ये सारी खामियाँ स्वराज्य के उषःकाल में सन् १९४६ में ही भोर-समिति ने और बाद में मुदलियार एवं श्रीवास्तव समिति ने बतलायी थीं। लेकिन इनकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। गाँव-गाँव से आये हुए आरोग्य-सेवकों का अब छः माह का प्रशिक्षण होने लगा है; —यह एक सही कदम उठाया गया है। लेकिन उनके पास औषधियाँ कम रहती हैं और इनका चयन भी ठीक से नहीं होता है। अस्पतालों के बजट का केवल ९ प्रतिशत दवाइयों पर खर्च होता है और बाकी खर्च वेतनों पर और मकान, यंत्र इत्यादि पर होता है।

आरोग्य-शिक्षा का स्वरूप—मेडिकल कॉलेजों में ऊपर की चिकित्सा-

पद्धति के अनुरूप ही शिक्षा दी जाती है, जिसका कि सामान्य जनता के आरोग्य से कोई वास्ता नहीं है। ऐसे कॉलेजों की संख्या स्वराज्य के समय १२ थी, आज वह बढ़कर १०० से ऊपर हो गयी है। २ लाख डॉक्टर इनमें से तैयार होकर निकले हैं। ये देहातों में जाने को और कम पैसों पर काम करने को तैयार नहीं हैं। एक ओर अनेक प्राथमिक आरोग्य-केन्द्रों को डॉक्टर नहीं हैं और दूसरी ओर १० हजार डॉक्टरों ने रोजगार के लिए एम्प्लायमेंट एक्सचेंज में नाम दर्ज कराये हैं। करीब २० हजार डॉक्टर पैसे के लालच में पड़कर विदेश चले गये हैं।[३४] यानी खर्च भारत की जनता करे और सेवा विकसित देशों की हो! यह बुद्धि का निर्गमन—'ब्रेन-ड्रेन'-उपनिवेशवाद का एक नया चिंता-जनक पहलू है।

सबसे बड़ा प्रतिरोध—केवल आरोग्य की शिक्षा देने से या रोग होने पर औषधियाँ सुलभ करने से काम नहीं चलेगा। कुपोषण कई रोगों को जन्म देता है और उसकी जड़ गरीबी, बेरोजगारी एवं विषमता है। ३ हजार कैलरी पोषण देनेवाला अन्न भारत के हर किसान-मजदूर को यानी कठिन परिश्रम करनेवाले को मिलना चाहिए, जब कि उसे २ हजार कैलरी का अन्न मिल पाता है। यद्यपि देश में अनाज की उपज बढ़ी है, तो भी क्रयशक्ति के अभाव में गरीब को २ हजार कैलरी में निभाना पड़ता है। उसके भोजन में प्रोटीन, ए विटामिन और लोह की कमी होती है। इसीलिए रक्ताल्पता (अॅनीमिया) सरीखे रोग आज अधिक मात्रा में होते हैं। साथ-साथ क्षय, कुष्ठ रोग एवं फायलेरिया आदि का हमला पूर्ववत् चल रहा है। कुछ रोगों की जड़ सामाजिक विषमता में एवं अंधश्रद्धा में है। वैसे ही डॉक्टरों का एवं आरोग्य में काम करनेवालों का सामाजिक रुख बदलने की निहायत जरूरत है। ऐसे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन किये बिना आरोग्य की संकुचित उपाय-योजना बहुत आगे नहीं बढ़ सकेगी।

इस दृष्टि से आरोग्य-विज्ञान के संशोधन में और शिक्षा में परिवर्तन करना होगा। आज विज्ञान के संशोधन-क्षेत्र, उसकी दिशाएँ, उसके फैशन, उसके विचार-प्रवाह, प्रेरणाएँ, उसकी प्रयोग-शालाओं के तरीके और औजार सब पश्चिम से आते हैं। सर्वोत्तमता के मानक और कसौटियाँ पश्चिम की हैं। पश्चिम से स्वीकृति मिलना ही हमारी उत्तमता की कसौटी है। लेकिन पश्चिम की आवश्यकताएँ और उनकी समस्याएँ अलग हैं और हमारी अलग हैं।[३५] हमारे विज्ञान का पश्चिम की ओर देखने का यह रुख सबसे बड़ा प्रतिरोध है, जिस कारण यहाँ की तन्त्र-विद्या राष्ट्रीय लक्ष्य और आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं हो पाती है।

दो रंगी नीति का अंत—ऊपर बताये हुए उच्च सिद्धान्तों में कोई बात नयी नहीं है। लेकिन उच्च सिद्धान्तों का मौखिक जप एवं कृति में ठीक इनके विरुद्ध जाकर अभिजात-वर्ग के स्वार्थों का पोषण करना, यह हमारी दो रंगी नीति चल रही है। अतः इसके खिलाफ जनमत जगाना चाहिए। आरोग्य जनता के जीवन-मरण का प्रश्न है। ८० प्रतिशत लोगों को छोड़ देनेवाली आरोग्य-योजना इस देश में एक दिन भी नहीं चलनी चाहिएं। ●

८. जनसंख्या

सन् १९८१ की जनगणना से पता चलता है कि भारत की जनसंख्या ६८ करोड़ से भी ऊपर हो गयी है। पिछले दशक में आबादी में वृद्धि का प्रतिशत २४.७५ प्रतिशत रहा है। सन् १९६१–७१ में यह दर २४.८० थी। यों हम देखते हैं कि बढ़ोतरी की दर नाममात्र को घटी है। इसी दर से जनसंख्या बढ़ती रही तो इस सदी के अंत में वह सौ करोड़ से ऊपर चली जायेगी। सन् १९०१ में जनसंख्या का आँकड़ा २४ करोड़ था। सौ

साल में चौगुनी से अधिक जनसंख्या हो रही है, क्योंकि मृत्यु-दर घटी है, लेकिन जन्म-दर ज्यादा नहीं घटी।

अवश्य ही भारत की जनसंख्या सीमित होनी चाहिए। लेकिन केवल गोली देने से या गर्भनिरोध के अन्य उपायों से या ऑपरेशन से यह काम नहीं होगा। इसके लिए सीमित परिवार के लाभों का ज्ञान फैलाना होगा और गरीबी, बेरोजगारी एवं सामाजिक, सांस्कृतिक अवरोधों को दूर करना होगा।

गरीबी जनसंख्या-वृद्धि का केवल परिणाम ही नहीं, वह कारण भी है, यह समझने की जरूरत है। जनसंख्या-वृद्धि से अन्न की समस्या सदैव विषम हो जाती है, ऐसा मानना ठीक नहीं। ८० करोड़ की जनसंख्या-वाला चीन हमसे बेहतर पोषण सबको दे सकता है, जब कि उसके पास हमसे कम जमीन है। तो हम क्यों नहीं दे सकते ? हमारे देश में भूमि एवं सम्पत्ति की मिल्कियत की विषम पद्धति एवं अनाज-वितरण की सदोष पद्धति योग्य पोषण के आड़े आती है। चीन का आर्थिक ढाँचा हमसे अधिक समतामय है। चीन अपने सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन कर जन्म-दर को नीचे ले आया है।

जनसंख्या रोकने के उपाय—जनसंख्या की वृद्धि रोकने के लिए हमें बच्चों की मृत्यु-दर को कम करना, विवाह की आयु को बढ़ाना, गृहस्थाश्रम से छुट्टी लेकर प्राचीनकाल के वानप्रस्थाश्रम को फिर से समाज-सेवा के रूप में जारी करना और महिलाओं को प्रतिष्ठा देना, 'सुरक्षित अवधि' का ज्ञान फैलाना, कामुकता के बजाय संयम का वातावरण बनाना आदि सारी बातें करनी होंगी। पुरानी सामाजिक पद्धतियाँ भी इस प्रश्न को हल करने में हमारी मदद करेंगी। बच्चे को कृत्रिम अनाज (बेबी फूड) के बजाय माता के स्तन का दुग्धपान जारी रखा जाय तो उससे दो बच्चों के बीच में अन्तर रखने में सहायता होती है। जन्म-दर घटाने का यह एक सुरक्षित और आरोग्यकारी मार्ग है। यह पद्धति माता और बच्चे

के स्वास्थ्य की दृष्टि से रोग-प्रतिबंधक भी है।[35] हमें जनसंख्या सीमित करने के लिए विज्ञान एवं संयम का समन्वय साधना होगा। अन्यथा व्यभिचार बढ़ने की संभावना है। इससे दूसरी समस्याएँ भी उठ खड़ी होंगी।

सामाजिक प्रगति सबसे अच्छी गर्भनिरोधक गोली है, यह बात सही है। केरल और श्रीलंका के उदाहरणों से यह सिद्ध होता है। भारत ने परिवार-नियोजन पर अब तक इस प्रकार खर्च किया है—

पंचवर्षीय योजना		करोड़ रुपये
प्रथम	पंचवर्षीय विकास-योजना	२.५
द्वितीय	,,	२.५
तृतीय	,,	२५.००
चौथी	,,	२८४.००
पाँचवीं	,,	५१६.००

इससे जन्म-दर थोड़ी-सी घटी है, लेकिन जनसंख्या बढ़ ही रही है। कारण, हमने सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचा ठीक करने की ओर ध्यान नहीं दिया। केवल बच्चा पैदा न हो, इसीके लिए उपाय किये। परिणामतः जनसंख्या की वृद्धि नहीं रुकी। अब दोनों बातें साथ-साथ करनी हैं। सारांश, सारा सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचा ठीक करके साथ में परिवार-कल्याण के उपाय अपनाने से जनसंख्या की समस्या हल होगी। यह देखा गया है कि गरीबी मिटाने के एवं विषमता हटाने के कार्यक्रमों द्वारा गरीबी तो मिटती ही है, साथ-साथ इससे जनसंख्या-वृद्धि भी नियंत्रित होती है। अमीरों को कम बच्चे होते हैं, यह सब जानते हैं। इस प्रकार से विचार करने पर हम देखते हैं कि जनसंख्या का प्रश्न उतना भयानक नहीं है, जितना जन की समस्याओं को समझने का और हल करने का प्रश्न है।

●

६. हमारे गाँव

संख्या—आज की भारत की ७६ प्रतिशत से अधिक जनता गाँवों में रहती है। गाँवों में बेरोजगारी बढ़ने से गाँवों के लोगों को नगर की ओर भागना पड़ रहा है। अतः सन् १९८१ की जनगणना में गाँवों की जनसंख्या में थोड़ा-सा घटाव आया है। सन् १९७१ में गाँव की जनता का प्रतिशत ८० था, जो ५,७५,९३६ गाँवों में बसी थी, जिनमें से ३,१८,६११ गाँवों की जनसंख्या एक हजार से कम थी और १,३२,८७३ गाँवों की जनसंख्या ५०० से भी कम थी।

आज के गाँवों की हालत—आज के गाँवों को गरीबी, गुलामी, बीमारी और अज्ञान का संसार ही कहना चाहिए। देहात के आज के आदमी में राम नहीं, जानवरों में जान नहीं एवं खेती और घर की दुर्दशा की कोई सीमा नहीं। गाँव आज टूट गया है। वह मात्र घरों की संख्या है। उसकी चिंता करनेवाला कोई नहीं। जिसे संसार में और कहीं स्थान नहीं, जिसमें शहर में जाकर कमाने की बुद्धि दिखाने की शक्ति नहीं, उसके जैसे-तैसे जीवन जीने का स्थान है—गाँव। वहाँ घर में हवा और उजाला नहीं। टेढ़े-मेढ़े ऊबड़-खाबड़ रास्तों से, दिन-रात ठोकरें खाते हुए गाँव में मार्ग निकालना पड़ता है। गाँव में छूत की बीमारी आती है तो गाँव का आदमी तकलीफों से कराहता है और पैर घिस-घिसकर मरता है। गाँव के प्रवेशद्वार पर वह भयंकर नारकीय गंदगी! किसी विदेशी लेखक ने लिखा है कि अँधेरी रात में भटकते-भटकते मुसाफिर की नाक में दुर्गंध घुसने लगे तो समझिये कि भारत का गाँव आ गया। स्वराज्य के बाद इन ३५ वर्षों में गाँवों की स्थिति में कोई खास फर्क नहीं पड़ा है।

बल्कि गाँव के दरिद्रीकरण की और उजड़ने की प्रक्रिया पहले से बढ़ गयी है। गाँव के नजदीक सड़क हो जाने से कुछ सुविधाएँ जरूर बढ़ी हैं, लेकिन उससे शोषण बढ़ने का रास्ता भी खुल गया है; क्योंकि, उससे गाँव विश्व-बाजार की पहुँच के भीतर आ गया है।

गरीबी में वृद्धि—हमने देखा कि गाँव की जमीन के स्वामित्व में विषमता है और गाँव के २८ प्रतिशत लोग कृषि-मजदूर हैं और उनका यह प्रतिशत बढ़ रहा है। गाँव के धंधे टूट जाने से बेरोजगारी बढ़ी है। यह प्रक्रिया पिछले १५० साल से शुरू हुई, जो कि स्वराज्य के बाद और बढ़ गयी है। पिछले ३५ वर्षों में गाँव एवं नगर की आर्थिक विषमता में वृद्धि हुई है। सन् १९४७ में देहातों की एवं नगरों की औसत आय का अनुपात १ : २ था। आज वह १ : ४ हो गया है। छोटा किसान अपनी खेती मध्यम किसान को बेच रहा है और खुद भूमिहीन मजदूर बनकर काम की खोज में मारा-मारा भटकता है। धंधे टूट जाने से गाँव के कारीगरों का भी यही हाल है। सन् १९५१ और १९७१ के बीच किसानों का प्रतिशत देश की जनसंख्या के अनुपात में ६० से घटकर ५० के नीचे चला गया है। अन्य राष्ट्रों में यह समृद्धि का लक्षण माना जाता है। भारत में यह दरिद्रता का लक्षण है। गाँवों में सबको काम न मिलने से नगरों में जाकर ये झुग्गी-झोपड़ियों में रहते हैं। गाँवों में किसानों की संख्या भी घटी है। सन् १९६१ में किसान ९.९५ करोड़ थे, सन् १९७१ में वे ७.८२ करोड़ रह गये। कुल मिलाकर गाँव उत्तरोत्तर गरीब हो रहा है।

गाँव की गरीबी के कारण—ऐसा क्यों हुआ है? आज के कारखानों के औद्योगीकरण के लिए बड़ी पूंजी लगती है। २०० साल तक गुलाम राष्ट्रों का और उपनिवेशों का शोषण करके यूरोप के राष्ट्रों ने आज के औद्योगीकरण की बुनियाद डाली है। इसलिए उन्होंने कच्चा माल एवं अनाज देहातों से सस्ता खरीदो और पक्का माल महँगा बेचो—ऐसी अर्थनीति बनाकर बीच के मुनाफे में से पूंजी का निर्माण किया। रूस ने किसानों के खेतों का जबरदस्ती सामूहिकीकरण किया और कच्चा माल

सस्ता खरीदने की नीति अपनायी। पड़ोसी छोटे-छोटे राष्ट्रों का शोषण करने की भारत की इच्छा नहीं थी और राष्ट्रीय जागृति के इस काल में वह संभव भी नहीं था। फिर छोटे-छोटे राष्ट्रों के शोषण से भारत सरीखे बड़े राष्ट्र के औद्योगीकरण के लिए पूंजी भी कितनी मिलती ? पूँजी के सवाल को हल करने के लिए भारत ने यही तय किया कि किसान को उत्पादन-खर्च के बराबर लाभकारी कीमत न दी जाय। किसान-नेता श्री शरद जोशी ने कहा है कि चौथी पंचवर्षीय योजना की कृषि-वस्तु-मूल्य-निर्धारण उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट के पृष्ठ १६ पर स्पष्ट शब्दों में कहा है "किसान के खेतमाल के सारे उत्पादन-खर्च की पूर्ति हो सके ऐसे दाम खेतमाल को देना व्यावहारिक नहीं है।" यानी विदेशी साम्राज्य ने जिस शोषण की नीति को डेढ़ सौ साल चलाया, उस नीति पर अब भारत के नगरवासी, उद्योगपति एवं व्यापारी-वर्ग चलने लगा और सरकार ने उसे औद्योगीकरण के लिए बढ़ावा दिया।

मूल्य-नीति—इस प्रकार खरीदी-बिक्री की दर देहातों के खिलाफ कायम की गयी। खुले बाजार में जब कृषि में उत्पादित वस्तु के भाव नीचे जाते हैं तो सरकार ने किसान को समर्थन-कीमत न देते हुए उसे भेड़ियों की दया पर छोड़ दिया है। खुले बाजार में भाव ऊँचा होने पर अनाज की 'लेव्ही' लगा दी यानी सस्ते भाव में सरकार द्वारा अनाज की खरीदी कर उसे मुख्यतः नगरवासियों को मुहैया करने की नीति अपनायी गयी। किसान को लगनेवाले लागत-खर्च से इस मूल्य-नीति का या दाम-नीति का कोई संबंध नहीं रहा। गन्ने का मूल्य बाजार में इतना गिर गया कि गन्ने की खोई का मूल्य एक बार बाजार में गन्ने से ज्यादा था। सन् १९६६ में कृषि-मूल्य-आयोग की स्थापना हुई। इस आयोग के सदस्यों में किसानों का कोई प्रतिनिधि नहीं था। इस आयोग के प्रथम अध्यक्ष डॉ० धर्मनारायण ने तय किया कि मूल्य-नीति ऐसी हो, जिनसे खेतिहर समाज अपना ज्यादा माल उपभोग न करें और फलस्वरूप बाजार में उसका अधिक माल आये। साथ-साथ मूल्य-नीति ऐसी हो कि नगरों में

बना हुआ माल भी देहाती जनता अधिक न खरीदे, जिससे कि वह निर्यात किया जा सके और महँगाई न हो। इससे जबरदस्ती बचत हो सकेगी, जो पूँजी के रूप में औद्योगीकरण के काम आयेगी। अर्थशास्त्रज्ञ भी यही मानते थे। अर्थशास्त्रज्ञों की एवं नौकरशाही की शिक्षा एवं परिवेश ऐसा होता है कि उन्हें दिल्ली में बैठकर देहात की समस्या समझ में ही नहीं आती।

उत्पादन-व्यय आँकना—फिर किसान की फसल का और औद्योगिक माल का लागत-खर्च गिनते समय दोहरी-नीति काम में लायी जाती है। किसान का उत्पादन-व्यय गिनते समय उसके बैलों ने और उसने सालभर जितने दिन काम किया होगा, उतना ही खर्च फसल पर डाला जाता है, जैसे कि बिना काम के दिनों में उसे एवं बैलों को ट्रैक्टर के मुताबिक खाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है! वैसे ही माल खेत से बाजार में ले जाने का परिवहन व्यय और किसान की लागत-पूँजी का ब्याज, व्यवस्थापन का व्यय आदि उसमें जोड़े नहीं जाते हैं। कारखाने के पक्के माल की लागत-कीमत आँकते समय कार्यालय का खर्च, किरानियों का वेतन, कम्पनी के संचालक मंडल के बैठकों की फीस, माल का विज्ञापन, प्रवास-व्यय, आपत्कालीन खर्च, मेहमान-गृहों का खर्च, विक्रय-कला का खर्च इत्यादि कई प्रकार के भत्ते और खर्च गिने जाते हैं। पर ऐसे कितने ही खर्च किसान के माल में न जोड़कर कृत्रिम रीति से फसल की कम लागत आँकी जाती है। यह बात इस विषय के विशेषज्ञ डॉ० एम० जी० बोकरे, नागपुर ने सिद्ध की है। हरियाना एवं पंजाब की सिंचाई की उपजाऊ खेती पर का गेहूँ का उत्पादन-खर्च आँका जाता है; महाराष्ट्र की सूखी, कम उपजाऊ जमीन पर नहीं। दूसरी ओर 'बीमार' मिलों को संरक्षण दिया जाता है और सार्वजनिक उद्योगों का घाटा सरकार वहन करती है, या उसके माल की कीमत सरकार बढ़ा देती है, जैसे पिछले बरस इस्पात की बढ़ायी है। श्री शरद जोशी ने यह बतलाया है कि देहात से लागत-मूल्य से कम भाव में चीजें खरीदने में और उन्हें

शहर में बनी हुई चीजें लागत-मूल्य से अधिक महँगी बेचने में प्रतिवर्ष दस हजार करोड़ रुपयों का देहातियों का शोषण होता है। गणित लगाकर डॉ० बोकरे ने नीचे की तालिकाएँ प्रकाशित की हैं।

कम्पनियों द्वारा प्रकाशित आँकड़ों से ही ये आँकड़े लिये गये हैं।[३७]

वस्तु का नाम	उत्पादन	बिक्री कीमत
(१) चाय	११.५० प्रति किलो	१८.०० प्रति किलो
(२) चीनी	२.१० ,,	८.०० ,,
(३) मूंगफली तेल	७.७८ ,,	१७.०० ,,
(४) सिंथेटिक कपड़ा	४.४८ प्रति मीटर	२५ ०० ,,
(५) सूती कपड़ा	३.०० ,,	६.०० प्रति मीटर

कितना भयंकर मुनाफा है यह ! आज गाँव नगर के उपनिवेश बन गये हैं।



नगरवासियों के लिए आवश्यक अनाज एवं कारखाने के लिए आवश्यक कच्चा माल सस्ते-से-सस्ता प्राप्त करने का स्थान गाँव हो गया है। वैसे ही शहरों में बना हुआ पक्का माल एवं सेवाएँ महँगे-से-महँगा बेचने के लिए बाजार गाँव हो गया है। अतः गाँव नगरवासियों के गुलाम हो गये हैं। औद्योगिक क्रांति के पहले किसान

को खेती के लिए लगनेवाले बीज, अपने मवेशियों की खाद, फसल पर रोग कम करने के लिए राख जैसे घरेलू उपचार आदि सुलभ थे। वह स्वावलम्बी था। इसलिए किसान के लिए बाजारभाव का खास सवाल नहीं था। आज संकरित बीज, रासायनिक खाद, फसलों के रोगों पर की दवाइयाँ और फसल के बाजारभाव—इन सबमें किसान परावलम्बी हो गया है। पहले वह स्वतंत्र था, आज नगरों का यानी केन्द्रित अर्थव्यवस्था का गुलाम हो गया है। अतः विनोबाजी ने ठीक कहा है, "पहले भारत आजाद गाँवों का आजाद देश था। मुगल-काल में वह आजाद गाँवों का गुलाम देश हुआ। अंग्रेजी राज में भारत गुलाम गाँवों का गुलाम देश बना। अब भारत गुलाम गाँव का आजाद देश है।"

किसान अतिरिक्त मुनाफा नहीं चाहता है। वह चाहता है न्याय, उदारता या खैरात नहीं। उसकी सीधी-सादी दो माँगें हैं। एक तो यह कि जिस पद्धति से औद्योगिक माल का उत्पादन-खर्च आँका जाता है, उसी पद्धति से उसके माल का उत्पादन-खर्च आँका जाय और दूसरी यह कि औद्योगिक माल की कीमत उसके लागत इतनी ही रहे। किसानों के माल को उचित भाव देना यानी अमीर किसानों के मौज-शौक के लिए पैसा देना नहीं है, जैसा कि कहा जाता है; वह सीमान्त जमीन के गरीब किसान को नुकसान से बचाना है। इस भाव के कारण अच्छी जमीन पर या अमीर-मालिक को जो अतिरिक्त मुनाफा मिले उस पर सरकार जरूर कृषि-आयकर लगाये; लेकिन १० प्रतिशत अमीर किसानों का हौआ बताकर सरकार ९० प्रतिशत गरीब एवं मध्यम किसानों का शोषण क्यों चलने दे? वैसे ही नगरों में बने माल के उत्पादन-खर्च का हिसाब प्रकट किया जाय, यह भी किसानों की वाजिब माँग है। आज किसानों का शोषण हो रहा है, यह बात साफ है। जैसे धान का प्रति क्विंटल खरीदी मूल्य १०५ रु० है। धान से ७० प्रतिशत चावल निकलता है। यानी प्रति एक किलोग्राम चावल का मूल्य १ रुपया

५० पैसा + धान-कुटाई का खर्च जोड़कर जितना होगा उतना होना चाहिए। बाजार में चावल डेढ़, पौने दो रुपया किलो न बिककर ढाई रुपया किलो बिकता है। कपड़े में रूई का लागत खर्च ३३ प्रतिशत होता है, जो किसान को मिलता है। शेष ६७ प्रतिशत शहर में मिलों को जाता है। औद्योगिक माल की—जैसे रासायनिक खाद को—कीमतें पिछले सालभर में दो बार बढ़ायी गयीं, लेकिन किसान के माल की कीमत उस परिमाण में नहीं बढ़ी। खाद के भाव सरकार ने ३ साल पूर्व एक बोरे के ५० रुपये से ९० रुपये कर दिये और उत्पादकों की एवं व्यापारियों की तिजोरियाँ भर दीं। वह कीमत बढ़ायी जाती है, तब भी नाममात्र ५-७ प्रतिशत बढ़ा दी जाती है। इससे शोषण मिटता नहीं। औद्योगिक उत्पादन की कीमतों की तुलना में कृषि-उत्पादन की कीमतों का अनुपात १९७७-७८ में ९७.५ था, वह गिरते-गिरते सितम्बर '८० में ७६.६ हो गया। इसलिए यद्यपि '७०-'७१ और '८०-'८१ के बीच कृषि-फसल की कीमतों का सूचकांक १०० प्रतिशत से बढ़ा है, लेकिन औद्योगिक उत्पादन की कीमतों का सूचकांक इसी अवधि में १५० प्रतिशत बढ़ा है।[३८] वास्तविक बहुतांश देहातियों पर का कर्ज यह उनके माल को दिये गये कम भाव का परिणाम है। किसान पर का कर्ज १९५१ में ५६ करोड़ था, वह १९८० में १२०० करोड़ हो गया। आचार्य राममूर्ति ने ठीक कहा है कि आज गाँवों का तीन तरह से शोषण हो रहा है—(१) मूल्य-नीति द्वारा खेती के उत्पादकों का शोषण, (२) कर-नीति द्वारा सामान्य जनता का शोषण, और (३) केन्द्रित शहरी अर्थनीति द्वारा ग्रामीण अर्थनीति का शोषण। अतः सच देखा जाय तो किसान कर्जमुक्त ही माना जाना चाहिए, क्योंकि देहातों का प्रतिवर्ष १० हजार करोड़ रुपयों का शोषण होता है।

महँगाई का हौआ—उत्पादन-व्यय के बराबरी का मूल्य देने से या कर्ज-मुक्ति से महँगाई बढ़ेगी, यह डर बतलाया जाता है। यह अकारण

है। बल्कि ऐसा करने से बिचौलियों का एवं नगरों में काम करनेवालों का अनाप-शनाप वेतन एवं मुनाफा कम होगा, यह भी संभावना है। इस खींचतान में यह नहीं भूलना चाहिए कि देहात का अर्थशास्त्र काफी हद तक स्वयंपूर्ण है। प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगनेवाले सारे उत्पादन के साधन--भूमि, जंगल, पानी, श्रम--सब देहातों में हैं, न कि नगरों में। अतः देहाती माल को प्रश्रय देकर और नगरों में बने माल का बहिष्कार करके देहाती लड़ाई में जीतेंगे, यह साफ है।

कृषि-मजदूर एवं कारीगर—गाँव में किसान से नीचे भूमिहीन मजदूर और कारीगर आते हैं। भारत में १९वीं शताब्दी के मध्य तक खेतिहर मजदूर का कोई स्पष्ट एवं अलग वर्ग विद्यमान नहीं था। ग्रामीण समाज खेती और दस्तकारी की समन्वित एकता पर आधारित था। सर जॉर्ज कॅम्पबेल ने लिखा है कि भारत में आम तौर पर खेती को किराये के मजदूरों द्वारा नहीं करवाया जाता था। सर टामस मनरो ने भी यही कहा है। जनसंख्या बढ़ी, ग्रामीण धंधे टूटे, किसान ऋणग्रस्त हुए, कर्ज के बदले जमीन का हस्तांतरण नये कानूनों से सरल हुआ और फलस्वरूप मजदूर-वर्ग उत्पन्न हुआ।

मजदूरों की बढ़ती संख्या और घटता काम

वर्ष	मजदूर	वर्ष	काम के दिन
१८८१	७५ लाख	१९६४-६५	१८३
१९३१	२.२ करोड़	१९७४-७५	१६५
१९८१	४.८ ,,		

आज मजदूरों की स्थिति अति दयनीय है। मजदूर की वास्तविक मजदूरी महँगाई के चलते पहले से भी घट गयी है। इसी अवधि में महिलाओं के काम के दिन १४९ से १३८ हुए हैं। महँगाई के कारण उनकी वास्तविक मजदूरी जो सन् १९६४ में १.४३ रु० थी, वह १९६४ की

कीमतों की तुलना में १.२६ हुई है।[३९] इनकी बेरोजगारी ५ वर्ष पहले २ २ करोड़ मानव-वर्ष थी। इस मानव-वर्ष की योजना के द्वारा अर्ध-बेकारी को भी पूर्ण-बेकारी का उचित अंश मानकर आँका जाता है। यानी इसके दुगुना व्यक्ति सचमुच अर्धबेकार रहे होंगे। यह आँकड़ा ५ वर्षों में डेढ़गुना बढ़ गया होगा, यानी आज करीब ७ करोड़ लोग बेरोज-गारी से ग्रस्त हैं। सच पूछा जाय तो वास्तव में आज पूरा काम न होने से ज्यादा लोग थोड़ा-थोड़ा काम करते हैं। अत: वे बेकार नहीं दिखाई देते। इससे मानव की कार्यक्षमता घटती है। यह सुप्त-बेरोजगारी हुई। इस तरह बेकारों का आँकड़ा १० करोड़ तक पहुँच जायगा।

बंधक मजदूर—गाँव में कोई बंधक मजदूर न रहे। पाँच साल पहले उन्हें मुक्त करने की योजना बनायी गयी थी और कानून पास हुआ था। राज्य-सरकारों ने उनकी गिनती की, तब इनकी संख्या १.२१ लाख पायी गयी। गांधी-शांति-प्रतिष्ठान और राष्ट्रीय श्रम-संस्था ने तफसीलवार गिनती की, तब इनकी संख्या २६ लाख के ऊपर पायी गयी। इनके पुन-र्वास की योजना सरकारों के पास नहीं है।

ग्रामोद्योग एवं व्यापार—सन् १९४७ में खेती पर जो केन्द्रीकरण था, वह आज नहीं रहा। उस समय ४ प्रतिशत बड़े भूमिवानों के पास आधी खेती थी। सन् १९८१ तक नयी पीढ़ी आयी, इस कारण बंटवारा हुआ। सीलिंग-हदबन्दी–कानून के डर से भी बँटवारा हुआ। इस बीच जनसंख्या भी बढ़ी। अत: आज सब भूमिहीनों को देहात में सभी जगह गृहवाटिका के अलावा खेती बाँटना संभव नहीं है। जहाँ संभावना हो, वहाँ जरूर बाँटी जाय। अन्य जगहों पर और जहाँ भू-वितरण हो, वहाँ भी इनको गाँव-गाँव में खेती के कच्चे माल का पक्का माल बनाने का धंधा दिया जाय। देहातियों को पूरा काम मिलने से नगरों की ओर जानेवाला उनका ताँता रुक जायगा। गाँव में सहकारी समिति बनाकर वह खरीद-बिक्री का काम करे। व्यापारियों को भी यह काम करने की अनुमति

रहे। इससे दोनों में प्रतियोगिता होगी और शोषण तथा मिलावट घटेगी। गाँव के उत्पादन की योजना ग्रामसभा गाँव की आवश्यकताओं को ख्याल में रखकर बनाये। अनाज का प्रशोधन, कपड़ा, जूते, साबुन, तेल, गुड़ आदि आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव में ही पूरी हो। आज गाँव में पैदा होनेवाले अच्छे आम, बढ़िया केले, संतरे, बढ़िया काजू, महीन चावल, सब नगरों में एवं विदेशों में पैसे की लालच में जा रहे हैं। यह बंद होना चाहिए। सबसे पहले गाँव की आवश्यकता पूरी हो, तब अतिरिक्त माल बाहर जाय। सीमित संग्रह होने से खतम होनेवाले लोहा, क्रोमियम सरीखे खनिज पदार्थ विदेशी मुद्रा के लालच से सरकार निर्यात कर रही है। उस पर भी पुनर्विचार होना चाहिए।

ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिए सरकार बहुत रुपया खर्च कर रही है, ऐसा कहा जाता है। जैसे, चालू पंचवर्षीय योजना में ३० हजार करोड़ रुपया ग्राम-विकास के लिए रखा गया है। इसका अर्थ हुआ सालाना ६ हजार करोड़ रुपया। इसमें भी आधा पैसा वेतन, कार्यालय-खर्च और भ्रष्टाचार में जाता है। दूसरी ओर १० हजार करोड़ रुपया गलत मूल्य-नीति के कारण देहात से नगर की ओर जाता है।

अन्य सुधार—खेती की व्यापक मेंड़-बंदी होनी चाहिए थी। सन् १९५१ से '७३ तक मेंड़-बंदी पर सरकार ने केवल ४७ करोड़ रुपया खर्च किया। राष्ट्रीय पर्यावरण समिति के अध्यक्ष बलवीर बोहरा के मुताबिक भारत की कृषियोग्य जमीन का ६१ प्रतिशत भाग और कृषि-अयोग्य भूमि का ७२ प्रतिशत भाग कम-ज्यादा रूप में खराब हो रहा है। तभी तो अनाज, चारा, लकड़ी आदि का उत्पादन कम हो रहा है। गाँव में कई चीजें बरबाद होती हैं। जैसे, काड़ी-कचरा या मानव-मलमूत्र। इनकी बढ़िया कम्पोस्ट खाद बनायी जा सकती है। गोबर-गैस प्लांट का उपयोग कर इंधन और इंजन चलाने के लिए ऊर्जा भी मिल सकती है। (परिशिष्ट १ देखें) चीन में ८० लाख गोबर-गैस प्लांट हैं। भारत में

सिर्फ ७० हजार हैं और उनमें से २० हजार बंद हैं। वर्धा के नजदीक के एक गाँव में वस्तुओं की बरबादी का हिसाब लगाने पर पता चला कि आज देहात में जितना उत्पादन होता है, उससे अधिक चीजें या शक्ति बरबाद होती है अथवा उनका उपयोग ही नहीं होता है। (परिशिष्ट २ देखें) गाँवों में परती जमीन पर और खाली पड़ी हुई पहाड़ियों पर जंगल लगाये जायँ और कुबबूल सरीखे वृक्ष लगाये जायँ तो संपत्ति सहज ही बढ़ सकती है। हर गाँव में शौचालय की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए। विज्ञान को गाँवों में ले जाकर निर्धूम चूल्हा आदि के द्वारा कष्ट मिटाना चाहिए। गाँव में शराब जैसे व्यसन समाप्त होने चाहिए। खेती एवं उद्योगों को लगनेवाला ऋण नाममात्र ब्याज पर गाँववालों को मिलना चाहिए। प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण होने पर भी आज केवल १५ प्रतिशत ऋण खेती को मिल रहा है। राष्ट्रीय सुरक्षा आदि आवश्यक खर्च निकालने के बाद सरकार के बजट की आधी रकम गाँव-वालों को क्यों न मिले, जहाँ पर देश की सारी जनसंख्या के अस्सी प्रतिशत लोग रहते हैं? यदि गाँववालों की आमदनी बढ़ेगी तो वे अगले दस-बीस सालों में सब काम अपने पैरों पर खड़े होकर कर सकेंगे और गाँव की प्रतिभा, जो आज शहर की ओर भाग रही है, वह गाँव में ही रहेगी।

केवल शोषण बन्द होने से काम नहीं चलेगा। देहात में हरएक के पास मकान और गृहवाटिका के लिए जमीन होनी चाहिए। आज घर के लिए जमीन देने का अधिकार राज्य के राजस्व-विभाग के हाथ में है और मकान के लिए जगह प्राप्त करने में कई बरस लग जाते हैं। आज करीब एक लाख गाँवों में पीने के पानी की व्यवस्था नहीं है। विज्ञान के कारण अब नीचे से पानी निकालना सुलभ हुआ है। प्रति कुआँ औसत खर्च २० हजार रुपया माना जाय तो भी २०० करोड़ रुपयों में सारे देहातों में पीने के पानी की व्यवस्था हो सकती है। इससे कहीं अधिक पैसा सरकार एशियाई खेलों पर खर्च करती है! एशियाई खेल अधिक

महत्त्व के हैं या पीने का पानी ? यह पानी ब्लीचिंग पावडर डालकर शुद्ध करने की व्यवस्था होनी चाहिए। हर गाँव के पास पर्याप्त चरागाह एवं जंगल होने चाहिए। गाँव में पॉवर-शक्ति एवं जलावन का प्रश्न कठिन हो रहा है। अतः बायोगैस का प्रसार होना चाहिए, जिससे जलावन, रोशनी एवं पॉवर का प्रश्न सुलझ सकता है। सूर्य-शक्ति, वायु-शक्ति का भी उपयोग किया जाना चाहिए। आज यह नगण्य-सा है। लद्दाख के चोग्लामरतार नाम का तिब्बत से आकर बसे हुए शरणार्थियों के बच्चों का देहात है। यहाँ का प्रमुख काम सूर्य-शक्ति की ऊर्जा से किया जा रहा है। देश में सूर्य-शक्ति कूकर का प्रचार हो रहा है। गाँव में सबकी शिक्षा उत्तम हो और ऐसी व्यवस्था हो कि पढ़ाई खतम होने पर आगे के शिक्षण की व्यवस्था हो। सामान्य बीमारियों की देखभाल एवं संक्रामक रोगों की रोकथाम की व्यवस्था हो। गाँव से एवं खेतों से पानी की निकासी का प्रबंध हो। नाटक, भजन-मंडली आदि के द्वारा सात्त्विक मनोरंजन की और अच्छे विचार के प्रचार की व्यवस्था हो, जिससे कि गाँव की सांस्कृतिक उन्नति हो सके। मतदाता जागृत रहें, इसलिए उनके चेतना-जागरण का कार्यक्रम हमेशा गाँव में चलता रहना चाहिए।

सारी सत्ता गाँव को—पुराने जमाने में गाँव स्वयंपूर्ण और खुशहाल थे। गाँव में ग्रामराज्य था—ऐसा सर चार्ल्स मेटकाफ ने तमिलनाडु के १९वीं सदी के गाँवों का वर्णन किया है। ब्रिटिश सरकार ने पंचायतों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप कर उनके न्याय एवं शासन-संबंधी अधिकार अपने हाथ में लेकर कोर्ट एवं पुलिस को दे दिये और उद्योग समाप्त कर दिये। अतः गाँव टूट गये। आज उनकी दशा ऐसी दयनीय है कि केन्द्रीय सरकार का बजट जहाँ १५ हजार करोड़ रुपयों का है और लाखों ग्राम-पंचायतों की कुल आय मात्र ३४ करोड़ रुपया है। आज गाँव टूटते जा रहे हैं। एक ही गाँव में लोग अब एक साथ विश्वासपूर्वक एक जगह बैठ नहीं सकते। गाँव की एकता टूट गयी तो समझिये कि देश की भी एकता

समाप्त हो गयी। इस दशा को जागृत ग्रामवासी बदल सकते हैं। बाहर की शक्ति यह काम कर नहीं पायेगी। ३५ साल बाट देख ली गयी। अतः 'ग्रामसभा को गाँवों के कारोबार के अधिकार दो', यह नारा बुलंद करना होगा। ग्राम के सभी बालिग स्त्री-पुरुषों को मिलकर ग्रामसभा बनेगी और ये सब मतदाता ग्रामसभा के सदस्य होंगे। इसका कार्यसमिति या पंचायत होगी, जिसमें हरिजन, आदिवासी, पिछड़े वर्ग, अल्पसंख्यक और स्त्रियाँ, इन सबका स्थान सुरक्षित होगा। इसकी बैठक प्रतिमास होगी।

ग्रामसभा के अधिकार—(१) ग्रामसंबंधी भूमि-व्यवस्था और भू-राजस्व सम्बन्धी सारे राज्य के अधिकार, जो आज तहसीलों में हैं, ग्राम-सभा में निहित होंगे।

(२) भू-राजस्व पूरा ग्राम-सभा का होगा।

(३) ग्रामसभा सभी निवासियों की आय के निर्धारित भाग से धन प्राप्त करके ग्रामकोष निर्माण करेगी और उससे विकास-कार्य एवं कल्याण-कार्य होंगे।

(४) गाँव के विकास के लिए ऋण लेने का अधिकार ग्रामसभा को होगा।

(५) सिंचाई, गाँव का जंगल, गोचर भूमि, शिक्षा और सुरक्षा का अधिकार व दायित्व ग्रामसभा का होगा।

(६) ग्राम से सम्बद्ध लेखपाल, शिक्षक, ट्यूबवेल ऑपरेटर, वन-रक्षक, पतरोल ग्राम-सेवक, पंचायत-सचिव, स्वास्थ्य-निरीक्षक आदि गाँव से सम्बद्ध सभी ग्रामसभा के निर्णयानुसार कार्य करेंगे। उनकी पदोन्नति, वेतन-वृद्धि, चरित्र-पंजिका में आख्या अंकित करना आदि सब ग्रामसभा के अधिकार में होगा।

(७) गाँव में सबको काम देना, उद्योग चलाना, कच्चे माल का

पक्का माल बनाना आदि कामों को ग्रामसभा प्रोत्साहन देगी और इसकी योजना बनायेगी। गाँव में बाहर से आनेवाले किसी भी हानिकर काम को रोकने का अधिकार ग्रामसभा को होगा।

(८) बड़े विवादों को छोड़कर गाँव-सम्बन्धी सभी राजस्व, दीवानी और फौजदारी झगड़ों के निर्णय और निबटारे का अधिकार ग्रामसभा द्वारा चुनी हुई न्याय-समिति को होगा।

(९) ग्रामसभा मेला, बाजार आदि का निर्माण एवं नियमन करेगी।

गाँव के कारोबार के ऊपर लिखे हुए अधिकार ग्रामसभा को अवश्य ही मिलने चाहिए। पिछले ३५ सालों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण के नाम पर लोगों के हाथों में सही ताकत सौंपने को कोई कोशिश ही नहीं हुई। अतः संविधान में ग्रामसभा के विषय जोड़कर ग्रामसभा को प्रशासन की पहली इकाई बनाया जाय। आज तो जिले में कलेक्टर ही 'हुजूर माई-बाप' बनकर बैठा है! वह चाहे जब पंचायतों को बरखास्त कर सकता है। संविधान में संशोधन हो जाने पर कोई सरकारी अधिकारी या पार्टी-शासन इनके कारोबार को नहीं दबा पायेगा। जैसे केन्द्र-सरकार राज्यों को आयकर आदि में से हिस्सा देती है और विशेष धनराशि बीच-बीच में राज्य चलाने को देती है, वैसे ही उचित धनराशि और कर लगाने के अधिकार ग्रामसभा को देने चाहिए, क्योंकि करों के प्रधान लचीले स्रोत केंद्र-सरकार के पास हैं। वैसे ही नीचे के स्तर से योजना बनानेवाले अच्छे लोगों को भी ग्रामसभा के लिए राज्य-सरकार उपलब्ध करायें और ये सहायक ग्रामीणों के मतानुसार योजना बनायें। खेत की पूरी उत्पादन-शक्ति, पशु-शक्ति, जल-शक्ति, वायु-शक्ति इन सबकी क्षमता का पूरा उपयोग हो,—इसका ध्यान ग्रामसभाओं को अवश्य रखना चाहिए।

विकेन्द्रीकरण याने बिखराव नहीं—कुछ लोगों का आक्षेप है कि

केन्द्रीय सत्ता के विकेन्द्रीकरण से केंद्र कमजोर होकर राष्ट्र में बिखराव पैदा होगा। यह भय निर्मूल है। ग्रामरूपी बुनियाद कमजोर होने से भारी-भरकम केंद्र आज वास्तव में अत्यंत कमजोर है। इसलिए बलवान् बुनियाद से शिखर कमजोर नहीं, बल्कि और मजबूत होगा। गाँव मजबूत हुए तो केंद्र कमजोर होगा या केंद्र मजबूत रहा तो गाँव कमजोर होंगे, ऐसा सोचना ही गलत है। दोनों के विषय अलग-अलग हैं और पूरक हैं। जो काम गाँव में नहीं हो सकता, वह राज्य-स्तर पर और केंद्र-स्तर पर होगा और इससे सारा राष्ट्र बलवान् होगा।

दोनों मोर्चों पर लड़ाई—गाँव के अन्दर भी शोषण एवं अन्याय चलते हैं। गाँव को स्वायत्तता देने से शोषण और अन्याय बढ़ेंगे—ऐसा कुछ लोगों को डर लगता है। यह डर एक हद तक सही है। इसलिए कमजोरों के हितों की रक्षा किये बिना गाँव की प्रगति एवं स्थायी एकता संभव नहीं। यह खुशी की बात है कि स्वराज्य के बाद शिक्षा का प्रसार, चुनाव, अखबार, रेडियो, श्रमिक-आंदोलन, किसान-आंदोलन आदि कारणों से गाँवों के कमजोर वर्गों में जागृति भी बढ़ी है। फिर यह भी ख्याल में रखना चाहिए कि पंचायत को अधिकार देने का नहीं, ग्रामसभा को अधिकार देने का आंदोलन करना होगा, यह बात कही गयी है। ५-१० आदमियों का समूह यानी पंचायत एक कमरे में बैठकर गलत निर्णय कर सकती है, ऐसी संभावना है, लेकिन ग्राम-सभा की बैठक में अन्याय की संभावना क्षीण हो जाती है। इसीके साथ-साथ गाँव के अंदर रहनेवाले छोटे किसान, मजदूर, हरिजन, आदिवासी, कारीगर आदि कमजोर-वर्गों को संगठित कर उनके हितों की रक्षा करनी होगी। गाँव के कमजोरों को ग्राम-सभा या लोक-समिति की छत्री के नीचे संगठित करना होगा। उनके लिए बनाये गये कानूनों का उन्हें पूरा लाभ मिले,—यह देखना होगा। न्यूनतम मजदूरी, वेतन, महाराष्ट्र की रोजगार ग्यारन्टी योजना, अंत्योदय-योजना, सीलिंग, बासगीत, उन्हें मिलनेवाला

कर्ज, अस्पृश्यता-निवारण आदि कानूनों का पालन हो रहा है या नहीं, यह देखने का इन संगठनों का काम होगा। इसके लिए आवश्यकतानुसार आंदोलन, बहिष्कार, सत्याग्रह आदि का अवलंब करना होगा। ऐसे संगठन अपनी जायज माँग ग्रामसभा में रखेंगे। केरल में मजदूरों की स्थिति अन्य प्रदेशों की तुलना में अपेक्षाकृत ठीक है, इसका कारण कृषि-मजदूरों के तगड़े संगठन हैं।

गाँव के अन्दर आन्दोलन करते समय एक बात की सावधानी रखनी होगी कि ऐसे आन्दोलनों के द्वारा गाँवों में फूट न पड़ जाय, नहीं तो गाँव के सहजीवन में बाधा आयेगी। श्रीमती इंदिरा गांधी, श्री चन्द्रशेखर या श्री वाजपेयी एक-दूसरे से लड़ते भी हैं और एक मेज के इर्दगिर्द बैठकर राष्ट्रीय प्रश्नों पर बातचीत भी कर लेते हैं। गाँव में ऐसा नहीं होता। वहाँ विवादों के कारण उनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध होने के कारण गाँव में का वैर स्थायी बन जाता है। अतः कमजोर वर्गों को न्याय दिलाने का काम ज्यादातर संवाद एवं संगठित शक्ति के द्वारा होगा। उसके लिए कभी-कभी सत्याग्रह का उपयोग भी करना होगा।

गाँव के अन्दर भी आन्दोलन चलाना होगा और गाँव के बाहर के शोषण के एवं अन्याय के विरुद्ध भी आन्दोलन चलाना होगा। आज नगर की सभ्यता गाँव का शोषण कर रही है। ग्रामपंचायत को जो नाममात्र के अधिकार मिले हैं, उनके उपयोग के समय भी या पंचायत के बजट के लिए पंचायत-समिति या जिला परिषद् की सम्मति चाहिए। ये नाममात्र के अधिकार भी छीने जा रहे हैं। सरपंच के बजाय ग्राम-सेवक के हस्ताक्षर से ही अब आर्थिक व्यवहार होंगे, यह महाराष्ट्र में नया नियम बना है। ग्राम-सेवक, पटवारी, शिक्षक इत्यादि सरकारी कर्मचारी गाँव में बहुधा उपस्थित रहते ही नहीं हैं। इनमें से कई घूस लिये बिना कोई काम ही नहीं करते हैं। गाँव की राशन-दूकान में नगर की तुलना में प्रतिव्यक्ति चीनी कम मिलेगी, बिजली की कटौती करनी हो तो नगर रात में प्रकाश से जगमगाता रहेगा और गाँव में अँधेरे

का साम्राज्य रहेगा—यह रोज का अनुभव है। शहरों में शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क, बिजली, अस्पताल, मनोरंजन आदि सब सुविधाएँ होती हैं। यह सारा देखकर ऐसा लगता है, मानो गाँव के ग्रामीण दोयम दर्जे के भारत के नागरिक हैं और प्रथम दर्जे के नागरिक हैं नगरवासी। आज ग्रामवासी पूर्ण रूप से कंगाल एवं गुलाम हो गये हैं। नगर की सभ्यता आज गाँव का शोषण कर रही है। यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि गाँव के बड़े किसान या साहूकार के शोषण के कारण ही केवल गाँव का छोटा किसान या मजदूर, हरिजन, आदिवासी इत्यादि शोषित-पीड़ित नहीं हैं, आज की सारी अर्थनीति गाँव का शोषण करनेवाली बनी है। इसी अर्थनीति के कारण गाँव के अन्दर के शोषण की तुलना में नगर के संगठित उद्योग, व्यापार-सेवाएँ, निरंतर बढ़नेवाली नौकरशाही सारे गाँव का–अमीर एवं गरीब दोनों का-शोषण कहीं ज्यादा करती है। ये लोग गाँव के बाहर रहते हैं, इसलिए उनका शोषण दिखाई नहीं पड़ता। निकटता के कारण गाँव के अंदर का शोषण ज्यादा दीखता है। वास्तविकता उलटी है। अतएव नगरों की शोषण-पद्धति के विरुद्ध और नगरों की गुलामी के विरुद्ध गाँवों का मुक्ति का यह आन्दोलन शिथिल न पड़े, यह सावधानी बरतकर एवं विवेक रखकर गाँव के अन्दर का आन्दोलन चलाना होगा।

गाँव एक स्वाभाविक सहज मानवों की इकाई है। यहाँ का जीवन निसर्ग से जुड़ा हुआ स्वाभाविक जीवन है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का सफल प्रयोग गाँव सरीखी छोटी इकाई में ही आसानी से हो सकता है। ऊपर की इकाइयों में प्रातिनिधिक लोकतंत्र का कार्य चलेगा। वह गाँव धन्य है, जहाँ मैं जन्मा, पला और उसकी सेवा में मेरी सारी शक्तियाँ समर्पित हैं,—ऐसी भक्ति हर ग्रामवासी के मन में जागृत होनी चाहिए। गाँव मेरा मंदिर है और ग्रामवासी देवता हैं, ऐसी जीवंत श्रद्धा होने से ग्राम भूतल पर का स्वर्ग बन सकता है। ●

१०. हमारे नगर

नगरों का प्रयोजन—तीर्थों के चलते और राजधानियों के कारण नगरों का निर्माण हुआ। बाद में कल-कारखाने एवं विद्याध्ययन के स्थानों पर नगर बसे। व्यापार एवं यातायात की सुविधा के कारण भी नगरों का निर्माण हुआ। आज नगरों में कल-कारखाने हो जाने के कारण वे गाँव के शोषक बन गये हैं। लेकिन ये गाँव के पूरक बन सकते हैं। जो उद्योग गाँवों में चल नहीं सकते, वे नगरों में चलें। विदेशों से आनेवाली चीजों की रोकथाम करें। वैसी चीजें तैयार करना नगरों के जिम्मे होना चाहिए।

आज की स्थिति—आज नगरों में भयंकर भीड़ है, परिणामतः मकानों की भारी तंगी है और लाखों लोग सड़क पर झुग्गी-झोपड़ियों में या यों ही आकाश की छत के नीचे ही सोते हैं। फिर उन्हें जबरन वहाँ से हटाया जाता है, जैसा कि बम्बई में कुछ समय पहले किया गया। बारिश में उन्हें हटाना अमानवीयता है, अच्छा हुआ उच्च न्यायालय ने बारिश में उन्हें हटाने से सरकार को रोका। कल-कारखानों के कारण हवा दूषित हो जाने से नगरों में दम घुटने लग गया है। आज नगरों में मानवीय सम्बन्ध बनते ही नहीं हैं और जो बनते हैं, वे भी सतही होते जा रहे हैं। ऐसे दृश्य देखने में आते हैं कि एक मकान में नीचे के कमरे में बेटे के जन्म की खुशी मनायी जा रही है तो ऊपर की मंजिल पर तपेदिक से किसी बीमार की मृत्यु हो गयी है! मकानों की दिक्कत के कारण अनेक लोग बाल-बच्चों को गाँव में घर पर ही छोड़कर आते हैं। पारिवारिक जीवन की सुविधा न होने से और कारखानों के यन्त्रों की गरमी और घरघराहट के कारण त्रस्त मानव व्यभिचार, शराब आदि

की ओर बढ़ें तो आश्चर्य नहीं ! धनपतियों के विलास को देखकर जल्दी-जल्दी अमीर होने की हविस मन में पैदा हो जाने के कारण, बिना श्रम से एकदम से धन-प्राप्ति के लिए जुआ और लॉटरी फलते-फूलते हैं। नगरों में आवागमन में बड़ी शक्ति और काफी व्यर्थ खर्च हो जाता है। कलकारखानों में हड़ताल, मंत्रालय पर मोर्चा, घेराव, नगर-बन्दी आदि बातें आम हो गयी हैं। शहरों की वजह से भंगियों की माँग बढ़ती जाती है और जब भंगी हड़ताल कर देते हैं, तो सारा शहर नरक बन जाता है।

नये नगरों का स्वरूप—कुछ वर्षों पूर्व कारखाने भाप पर चलते थे और इसलिए उद्योगों का केन्द्रीयकरण आवश्यक था, ऐसा तर्क दिया जा सकता है। अब बिजली और अणुशक्ति के कारण देश में विकेंद्रित उद्योग-धंधों का विकास हो सकता है। साथ-साथ विद्या-स्थान और आरोग्य-केन्द्रों का भी विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है। औद्योगिक आवश्यकता, नगर-व्यवस्था का प्रतिव्यक्ति खर्च, आने-जाने में रोज-रोज व्यर्थ खर्च होनेवाला समय, खेलकूद के लिए जरूरी मैदान और सांस्कृतिक आवश्यकताएँ—इन सब बातों का विचार करके डेढ़-दो लाख से अधिक बस्तीवाले शहरों से लाभ के बदले हानि अधिक होती है, ऐसा अमेरिका एवं फ्रांस में अनुभवसिद्ध निष्कर्ष निकला है। अतः एक-दो लाख से बड़ा कोई नगर न हो,—इस दिशा में हमारे कदम उठने चाहिए।[४०] सुरक्षा की दृष्टि से भी बहुत बड़े नगर हानिकारक हैं, अतः बड़े नगरों के विकेन्द्रीकरण की योजना बनानी होगी। नये नगरों की रचना करते समय हर घर के साथ एक गृह-वाटिका की योजना करनी होगी। इसमें लोग मेहनत कर आवश्यक साग-सब्जी और फल-फूल खुद पैदा कर लेंगे। निसर्ग-सम्पर्क के कारण सबका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा, घर-खर्च घटेगा और सृजन का आनन्द मिलेगा। इससे काम, व्यायाम और आनन्द,—तीनों का मधुर मिलन होकर जीवन अधिक सुखी तथा समृद्ध बन सकेगा। आज की सारी रचना ही उलटी है—जहाँ काम है वहाँ आनन्द नहीं और जहाँ आनन्द है वहाँ काम नहीं !

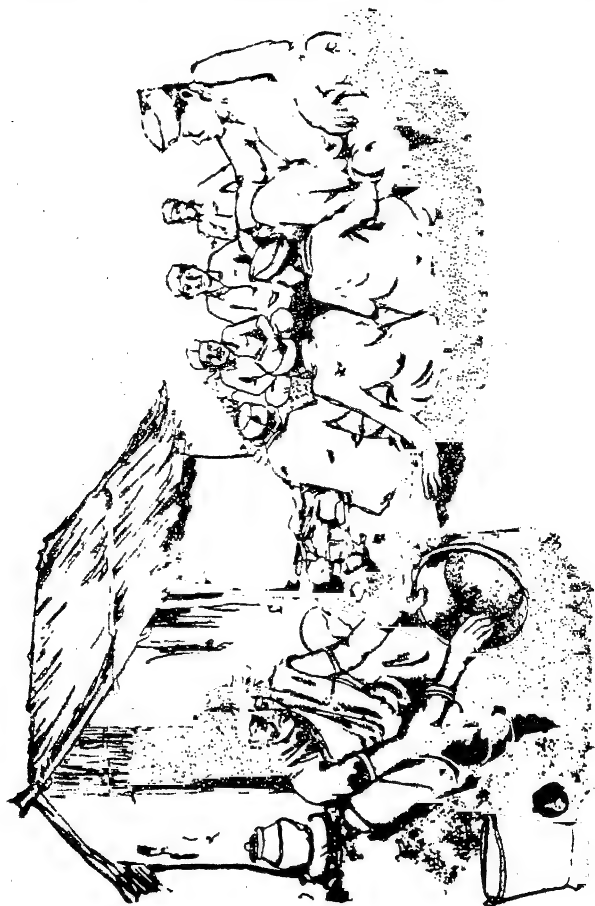
उद्योग का स्वरूप—नये नगरों में न कोई मालिक होगा, न कोई मजदूर। बड़े कारखानों का सरकारीकरण के बजाय समाजीकरण करना होगा। इनके संचालक मंडल में मजदूरों के, व्यवस्थापक-वर्गों के, सरकार के, उपभोक्ताओं के और स्थानीय समाज के प्रतिनिधि होंगे। ये कारखाने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्तों के अनुसार चलेंगे। याने उत्पादन समाज के हित में होगा और व्यवस्था में मजदूरों की भागीदारी होगी। इंग्लैण्ड, पश्चिम जर्मनी, फ्रान्स आदि पश्चिम के देशों में इस प्रकार के कई कारखाने सफलता से चल रहे हैं। भारत में भी इसके प्रयोग होने चाहिए। उत्पादन की मुख्य प्रेरणा मुनाफे की नहीं, आवश्यकताओं की पूर्ति की होगी। आज शहरों में संपत्ति का, वेतनों का और आय का फर्क अनाप-शनाप है। इसराइल में और नार्वे, स्वीडन सरीखे देशों में आय के बीच १:५ का फर्क है। हमारे राष्ट्र में भी वह कम किया जाना चाहिए। उसी तरह से हमें शहरों और गाँवों की आमदनी के बीच की खाई भी पाटनी चाहिए। गाँवों में जैसे खेती पर 'सीलिंग' होनी चाहिए, वैसे ही नगरों में भी सम्पत्ति की सीमा कानून से निर्धारित की जानी चाहिए।

क्रान्ति के अग्रदूत—विश्वभर का अनुभव यह बतलाता है कि नगर सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति के अग्रदूत रहे हैं। आर्थिक शोषण, अस्पृश्यता, जातिभेद, बाल विवाह, दहेज आदि के विरुद्ध सारे आन्दोलन शहरों में ही प्रारम्भ हुए हैं और वहीं खड़े भी हुए हैं। बड़े-बड़े नगरों पर वहाँ की स्थानीय संस्कृति की अपनी छाप तो रहती ही है, साथ-साथ सारे भारत की और दुनिया की संस्कृति का प्रभाव भी उन पर पाया जाता है। नगर संस्कृतियों के संगम-स्थान होते हैं। वहाँ भाषा, धर्म, साहित्य, विज्ञान आदि का अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य बराबर होता रहता है। आर्थिक समता और सामाजिक समता के विचारों की हवा नगरों में निरन्तर बहती रहती है। हमें नगरों के इस सांस्कृतिक स्वरूप को सुरक्षित रखना होगा और उसे उत्तरोत्तर समृद्ध बनाने का प्रयत्न करना होगा।

●

११. स्त्री

स्त्री शब्द 'स्तृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—विस्तार करना, फैलाना। प्रेम को कुल दुनिया में फैलाना, यह स्त्री का कार्य है। स्त्री



भला दोनों के बीच यह भेद क्यों ?

एवं पुरुष संसाररूपी रथ के दो पहियों के समान हैं। दोनों पहिये समान रहें, तभी रथ ठीक से चल सकता है। शरीर की बनावट की दृष्टि से भी ४८ क्रोमोजोन्स में से ४७ क्रोमोजोन्स पुरुष एवं स्त्री में समान हैं।[४१]

आज की नारी की हालत—केवल एक गर्भाशय होने से क्या स्त्री पुरुष से इतनी भिन्न हो जायगी कि स्त्री खेत में या कारखाने में काम भी करे और काम पर जाने के पूर्व एवं काम पर से लौटने के बाद सफाई, पानी भरना, अनाज-सफाई, पीसना, रसोई शिशु-पालन आदि सब काम भी करती रहे और पुरुष काम पर जाने से पहले एवं बाद में बीड़ी पीता रहे और गप लगाता रहे! आज स्त्रियों को जहाँ प्रतिदिन १४-१५ घंटा बोरियत पैदा करनेवाला काम मृत्यु तक करना पड़ता है, वहाँ पुरुष कम समय काम और मनचाहे काम करते हुए समाज में सारी प्रतिष्ठा और सन्मान का अधिकारी होता है एवं स्त्री पुरुष से घटिया मानी जाती है।

इसका परिणाम यह है कि स्त्रियों के पालन में घोर उपेक्षा होती है। नीचे की तालिका से यह साफ होगा—[४२]

विवरण	पुरुष	स्त्री	जनगणना का साल
आयुर्मान	५३.२ वर्ष	५१.८ वर्ष	१८८१
संख्या	१,००० पुरुष	९७२ स्त्रियाँ	१९०१
	,,	९५६ ,,	१९५१
	,,	९३० ,,	१९७१
	,,	९३५ ,,	१९८१
साक्षरता	३०.५	१८.४०	१९८१

विवरण	पुरुष	स्त्री	जनगणना का साथ
बाहर काम करनेवाली स्त्रियाँ	१,०००	५२५	१९०१
	,,	४०८	१९६१
	,,	२१०	१९७१

व्यापक अन्याय—आयुर्मान, साक्षरता, काम करनेवाली स्त्रियों का प्रतिशत आदि के इन आँकड़ों पर हम गौर करें तो स्त्रियों पर होनेवाले अन्यायों का पता चल सकता है। दुनिया के बहुत से देशों में स्त्रियों का आयुर्मान पुरुषों से ज्यादा है। भारत में भी सन् १८७१ में पुरुषों का आयुर्मान जहाँ २३.७ साल था, वहाँ स्त्रियों का २५.६ था। उसके बाद स्थिति उलटी हो गयी। स्त्री-पुरुष समानता केरल में अधिक होने से केवल वहाँ स्त्रियाँ ज्यादा हैं। पंजाब में अन्य प्रदेशों की तुलना में स्त्रियों की संख्या सबसे कम है। १९६८ में भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक एक लाख महिलाओं की आबादी में ५७३ प्रसव-कालीन मौत की घटनाएँ घटीं।[४३] भारत में ३५२ जिलों में से ८३ जिलों में महिलाओं में साक्षरता ५ प्रतिशत से भी कम है। ११३ जिलों में ५ से १० प्रतिशत है। साक्षरों में से भी ८ प्रतिशत मैट्रिक और पौने दो प्रतिशत स्नातक हैं। सौ लड़कों के पीछे केवल २१ स्त्रियाँ उच्च शिक्षा लेती हैं और सिर्फ ४ लाख महिलाएँ स्नातक हैं। लोकसभा में महिला-सदस्य सन् १९५२ में ४.४ प्रतिशत थीं। अब यह अनुपात ५० तक पहुँचने के बजाय १९७७ में ३.५ प्रतिशत हुआ है। यंत्रीकरण एवं फैक्टरी-कानून के परिणामस्वरूप बाहर काम करनेवाली और नौकरी करनेवाली स्त्रियाँ उत्तरोत्तर पुरुषों द्वारा हटायी जा रही हैं। सन् १९५१ से १९७१ के बीच उद्योगों में काम करनेवाले पुरुषों की संख्या २५ प्रतिशत बढ़ी, महिलाओं की १२ प्रतिशत घटी। इस पर डॉ० वीणा मजूमदार वेदना के

साथ लिखती हैं कि स्त्रियों को काम पर से हटाने का यही क्रम जारी रहा तो वह दिन दूर नहीं, जब वेश्या-व्यवसाय का एकमेव धंधा महिलाओं के लिए खुला रहेगा !

विधवा का जीवन एक करुण कहानी है। वह अशुभ मानी जाती है। आज देश में सवा तीन करोड़ विधवाएँ हैं। स्त्रियों पर होनेवाले बलात्कारों की संख्या इन दिनों बढ़ी है। बागपत-कांड बहुचर्चित है। लेकिन कई काण्ड प्रकाश में ही नहीं आ पाते। सन् १९७९ में ३८९९ मामले बलात्कार के हुए। सन् १९८१ में १०६४ महिलाएँ पारिवारिक अनबन या दहेज के कारण जिन्दा जलायी गयीं। लड़की ज्यादा पढ़ी तो दहेज अधिक देना पड़ेगा, इस डर से लड़कियों की उच्च शिक्षा कई बार रुक जाती है। आज भारतीय समाज में प्रचलित सारी गालियाँ औरत एवं उसके सम्बन्धों को लेकर हैं ! बचपन से ही हीन भावना के जो संस्कार पग-पग पर घर में एवं समाज में स्त्री को सहन करने पड़ते है, उस कारण वह खुद को हीन समझने लगती है और पुरुष की अनुगामिनी होने में ही धन्यता महसूस करती है।

सदियों से स्त्री को 'देवी' या 'दासी' माना गया है, मानव एवं साथी शायद ही कभी माना गया हो। गरीब-वर्ग को एवं तथाकथित नीची जाति की स्त्रियों को काम के लिए बाहर जाना अनिवार्य हो जाने से वे अपेक्षाकृत कुछ आजाद हैं। लेकिन मध्यम और उच्च-वर्ग की अनेक स्त्रियाँ घर की चहारदीवारी लाँघ नहीं सकतीं, फिर वे चाहे हिन्दू हों या मुसलमान। उत्तर प्रदेश एवं बिहार में बहुत सी कुलीन लड़कियाँ विवाह होने पर घर के अन्दर प्रवेश करती हैं और मृत्यु के बाद ही उनका शव घर के बाहर निकलता है ! लड़की १३-१४ साल की होते ही माता-पिता उसकी शादी कर डालते हैं। बाल-विवाह के कारण उसकी शिक्षा एवं विकास रुक जाता है। ब्रह्मचर्य पुरुष के लिए प्रतिष्ठित है, लेकिन स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य है। कई जातियों में ५-७ साल

की लड़कियों का विवाह हो जाता है। विवाह होने पर बाहर की दुनिया से उनका कोई वास्ता नहीं रहता। कई जातियों में शादी होने के बाद लड़की घूँघट के भीतर, मुसलमानों में बुरके के भीतर कैद हो जाती है। मुस्लिम महिलाएँ नमाज पढ़ सकती हैं, लेकिन मस्जिद नहीं जा सकतीं। एक मुस्लिम पुरुष ४ स्त्रियों से विवाह कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में इन चारों पत्नियों का जीवन कैसा रहता होगा, इसकी कल्पनामात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं! ३ बार 'तलाक' कहने पर मुस्लिमों में तलाक हो जाती है। इस कारण लाखों मुस्लिम महिलाएँ परित्यक्ता होती हैं और जिन्दगीभर दुःख भोगती रहती हैं। देश की आधी प्रजा जहाँ इस हालत में हो, उस देश का लोकतन्त्र लूला हो और देश के विकास की गति धीमी हो तो क्या आश्चर्य!

विशेषताएँ—वास्तव में देखा जाय तो पुरुष की तुलना में स्त्री में कई विशेषताएँ हैं। वह जननी है और उसका सारा जीवन स्नेहमय है। बिना माता की ममता के बच्चों का लालन-पालन असंभव है। वह दयालु है, क्रूर नहीं। इतिहास में पुरुषों की तरह स्त्रियों ने कभी भी सामूहिक हिंसा और क्रूरता का रास्ता नहीं अपनाया है। नारी अपार कष्ट सहन करती है। वह त्याग, तपस्या, क्षमा एवं संयम की मूर्ति है। अतः गुणों के और उपयोगिता के आधार पर वास्तव में स्त्री का दर्जा पुरुष से विशेष होना चाहिए। उसके पिछड़ेपन को हटाने के लिए और शीघ्र ही उसे पुरुष की बराबरी में लाने और उसे उचित स्थान दिलाने के लिए उसे विशेष संरक्षण मिलना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि पैसा कम हो तो लड़कों की पढ़ाई के बजाय लड़कियों की पढ़ाई को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इसका कारण यह है कि पुरुष की पढाई का परिणाम उसी तक सीमित रहेगा; स्त्री पढ़ी तो बच्चों का गृहशिक्षण अच्छा होगा। बच्चों की मानसिक एवं बौद्धिक प्रगति की तीन-चौथाई बुनियाद १ से ५ वर्ष की उम्र में होती है और इस अवधि में बच्चा पिता के बजाय माता के पास घर में ही अधिक रहता है।

अतः माता शिक्षित और संस्कारवान् हो तो बच्चों के सुसंस्कारी होने की संभावना बढ़ती है।

वास्तविक भूमिका—वास्तव में स्त्री-पुरुष समान हैं एवं दोनों की भूमिका परस्पर-पूरक है। इस समानता के आधार पर 'स्त्री-मुक्ति' का आन्दोलन चलाना होगा और इसका नेतृत्व स्त्रियों को आगे आकर करना होगा। महिला की वेदनाएँ महिला ही ठीक समझ सकती है और उन्हें वाणी एवं कृति दे सकती है। इस आन्दोलन को प्रबुद्ध पुरुष-वर्ग का पूरा सहयोग मिलना चाहिए। जननी का विशिष्ट काम छोड़कर बाकी सारे कामों में स्त्री और पुरुष को समान भागीदारी हो-यह इस आन्दोलन का मुख्य बिन्दु होना चाहिए।

नारी-मुक्ति-आन्दोलन—नारी-मुक्ति-आन्दोलन के ऐसे कई कार्यक्रम हो सकते हैं-

१. समान काम के लिए समान वेतन।

२. स्वयं रोजगार करनेवाली स्त्रियों का संगठन कर उन पर होने-वाले अन्यायों को मिटाना। यह कार्य अहमदाबाद में 'सेवा' नाम की संस्था स्थापित कर श्रीमती इला भट्ट कर रही हैं। लिज्जत पापड़ संस्था को चलाकर भी इसे किया जा रहा है।

३. दहेज के खिलाफ आंदोलन—कॉलेज की लड़कियाँ और लड़के इसमें विशेष हिस्सा ले सकते हैं। वे संकल्प करें कि दहेज लेकर या देकर वे विवाह नहीं करेंगे और न ऐसी किसी शादी में शामिल होंगे, बल्कि ऐसे विवाहों के खिलाफ धरना देंगे, पिकेटिंग करेंगे।

४ शराब के विरुद्ध आन्दोलन—पति शराब पीता है तो उसकी मार महिलाओं को सहन करनी पड़ती है। इस कार्यक्रम में शराब की दूकानों पर पिकेटिंग करना समाविष्ट है।

५. अश्लील-विज्ञापन के विरुद्ध आन्दोलन—अश्लील विज्ञापन एवं

पोस्टर हटाने के निवेदन के बाद अगर वे न हटाये जायँ तो उन पर कालिख पोती जाय या अधिकारियों को सूचना देकर सार्वजनिक रूप से उनकी होली की जाय। वासना उभारनेवाली फिल्मों, विज्ञापनों, गीतों, चित्रों एवं कैब्ररा नाच के विरुद्ध आन्दोलन किया जाय।

६. बलात्कार करनेवाले का सामाजिक बहिष्कार किया जाय। बलात्कार मर्द के अत्याचार का एवं शोषण का क्रूरतम रूप है। यह केवल मानव-समाज में ही होता है, पशुओं में नहीं। इस मामले में पुरुष पशु से भी बदतर है। लादा हुआ मातृत्व स्त्री की अप्रतिष्ठा का कारण नहीं बनना चाहिए। बलात्कार से स्त्री अपवित्र नहीं होती है, यह समझना और समाज को समझाना होगा।

७. परिवार में लड़का-लड़की की परवरिश में माता-पिता बचपन से समानता बरतें।

८. अनावश्यक कष्ट से मुक्ति के कार्यक्रम--रसोई में स्त्रियों की आँखें आज के चूल्हे से कमजोर हो जाती हैं। निर्धूम चूल्हे से स्त्री इन कष्टों से छुटकारा पा सकती है। आज देहातों में उन्हें खुले में रास्तों पर शौच के लिए बैठना पड़ता है और रास्ते से कोई पुरुष जाय तो लज्जा के कारण उन्हें उठना-बैठना पड़ता है। महिलाओं की यह कैसी दुर्दशा है! संडास की व्यवस्था करने से ये तकलीफें मिट सकती हैं।

९. आंतरजातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

१०. स्त्री सुरक्षित या पुरुष-रक्षित नहीं, स्व-रक्षित हो। इसके लिए जूडो-कराटे आदि व्यायाम इसमें सहायक हो सकते हैं।

स्त्री में बदलाव—ऐसे आन्दोलन के लिए स्त्री को भी स्वयं को बहुत बदलना होगा। उसे हीन भावना छोड़कर समानता के भावों का अपने में पोषण करना होगा। अपने को अपने परिवार में कैद न करते हुए अपना दायरा उससे व्यापक बनाना होगा। धर्म, जाति, भाषा, पंथ एवं पक्ष की संकुचितता को तोड़कर विश्वजननी की उदारता से मानव-मात्र

को उसे अपनी गोद में लेना होगा। अपने हृदय के प्रेमबिन्दु का विशाल सिन्धु बनाना होगा। वह है समाज को तारण करनेवाली तारिणी! समाज को सही दिशा दिखानेवाली वह प्रेमशक्ति है। इस अपने स्वरूप को समझकर वह शृंगार तथा प्रसाधनों द्वारा पुरुष के विलास की या उपभोग की वस्तु खुद को न बनाये। तड़क-भड़क के बजाय सादगी में सौन्दर्य है, यह स्त्री-पुरुष दोनों को मानना चाहिए। पति भ्रष्टाचार या अन्य गलत काम करता हो तो उसका कान पकड़कर उसे रोकने की शक्ति स्त्री में आनी चाहिए। कृत्रिम लज्जा त्यागकर पुरुषों की गुलामी में से आधे समाज की मुक्ति कराने के लिए उसे आगे आना होगा और संकुचितता, जातीयता और अन्धश्रद्धा छोड़नी पड़ेगी।

सावधानियाँ—नारी-मुक्ति-आन्दोलन में स्त्रियाँ पश्चिम की अंधी नकल न करें। पश्चिम के कई हिस्सों के अनेक लोगों में स्वतन्त्रता की भावना स्वैराचार और स्वैर यौन-सम्बन्धों में परिवर्तित हुई है, वैसा भारत में न हो,—इसका ख्याल स्त्री-पुरुष दोनों को रखना होगा। बीड़ी या शराब पीने में नारी पुरुष की बराबरी न करे, बल्कि खुद संयमी एवं निर्व्यसनी रहकर वह पुरुष को अपने नैतिक प्रभाव से ठीक करे।

पुरुष की वृत्ति में परिवर्तन—इस स्त्री-मुक्ति-आन्दोलन में पुरुष-वर्ग को स्त्री का साथ देना होना। भले कुछ जबरदस्ती क्यों न करनी पड़े, पर सदियों से हीन भावना से ग्रसित स्त्री को घर की चहारदीवारी से बाहर लाना होगा और विकास के सारे मौके उसके सामने खोल देने होंगे। इसके कारण स्त्रियों के सिर पर काम का बोझ बढ़ जायगा। इसलिए भी मर्दों को घर-काम में और बच्चों के पालन में हिस्सा लेना चाहिए। खुद के व्यवहार में पुरुष जितना परिवर्तन करेंगे, उतनी जल्दी नारी समानता की सीढ़ी पर चढ़ सकेगी।

गांधीजी की सपना—गांधीजी ने कहा था, "आज का समाज हिंसा, सत्ता एवं पैसे की बुनियाद पर खड़ा है। इसलिए इसका नेतृत्व पुरुषों

की ओर है। लेकिन मेरी नजर के सामने भारत का जो स्वप्न है, उसमें प्रेम, सेवा एवं त्याग के मूल्यों पर आधारित समाज होगा और इसका नेतृत्व महिलाएँ करेंगी। युद्ध में फँसी हुई दुनिया शान्ति के अमृत की प्यासी है। उसे शान्ति की कला सिखाने का काम स्त्री ही कर सकती है। वह सत्याग्रह की नेत्री बन सकती है। उसके लिए चाहिए मजबूत दिल, जो कष्ट-सहन करने से एवं श्रद्धा से मिलता है। अहिंसा के क्षेत्र में पुरुष से स्त्री ज्यादा आसानी से खोज भी कर सकती है और ज्यादा साहसपूर्ण कदम भी उठा सकती है। मेरा विश्वास है, जैसे पशु-सुलभ साहस में पुरुष स्त्री से आगे है, वैसे आत्मत्याग के साहस में स्त्री पुरुष से कहीं बढ़कर है। अगर अहिंसा मानव जीवन का धर्म है तो भविष्य स्त्री के हाथ में है।"[४४] काश, हमारे देश की महिलाएँ अपनी शक्ति को पहचानतीं!

१२. सांस्कृतिक एवं सामाजिक विचार

भारतीय संस्कृति का स्वरूप—भारतीय संस्कृति सर्वसमावेशक है। वह केवल मानवों का विचार नहीं करती, पशु, पक्षी, वनस्पति, पर्यावरण आदि सबका विचार करती है। वह सहिष्णु है। 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' वाली उक्ति में उसका विश्वास नहीं है। 'जियो और जीने दो' यह उसका घोष-वाक्य है। संयम उसका हार्द है। यह जन्म मौज-शौक के लिए नहीं, अपने को पहचानने के लिए, सत्य-शोधन के लिए और परम तत्त्व की खोज के लिए है,—यह सदा से उसका लक्ष्य रहा है। विज्ञान भी सत्य-शोधन करता है। अतएव अध्यात्म एवं विज्ञान का बढ़िया समन्वय हो सकता है। भारत की संस्कृति अत्यन्त पुरातन संस्कृति है। कवि इकबाल ने गाया है :

यूनान मिस्र रोमां सब मिट गये जहाँ से,
अब तक मगर है बाकी, नामो निशाँ हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं मिटाये !

वह बात है, इसकी सहिष्णुता। भारतीयों ने संसार के किसी भी अंग पर कभी आक्रमण नहीं किया। उसका आक्रमण बिलकुल दूसरे ढंग का रहा। भारत से बुद्ध भिक्षु सारे एशिया में गये, धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए। चार्वाक सरीखे नास्तिक, बुद्ध, जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्म, इन सबका समन्वय करके ही भारतीय संस्कृति बनी है।

विकृतियाँ—प्रत्येक संस्कृति में कालान्तर में कुछ विकृति आती है। भारतीय संस्कृति में भी विकृतियाँ आयीं। उनकी सजा भारत को भुगतनी पड़ी। भारत में हिंदू बहुसंख्यक हैं, और वे हजारों जातियों में विभक्त हैं। विभिन्न वृत्तियों एवं धंधों के लिए किसी अतीत में वर्ण एवं जातियाँ श्रम-विभाग के कारण बनी थीं। आज जातियों का धंधों से या मानसिक वृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। जमाना बदल गया है। आज किसी भी जाति का व्यक्ति कोई भी धंधा कर सकता है और करता है। हजार-डेढ़ हजार साल पहले इन जातियों में उच्च-नीचता का भाव पैदा हुआ। इस कारण मुँह से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहनेवाले भारतीय अपने भाइयों का स्पर्श होने पर 'हम भ्रष्ट हो गये'—ऐसा मानने लगे। सिद्धांत में बड़ी ऊँची बात और व्यवहार में संकुचितता और नीचता की पराकाष्ठा, ये दोनों परस्पर-विरुद्ध बातें एक ही व्यक्ति के जीवन में एवं भारतीय समाज में दीखने लगीं। मानव-जीवन के दो हिस्से हो गये, जिनका एक-दूसरे से कोई संबंध नहीं रहा।

विकृतियों को मिटानेवाले महापुरुष—जीवन समग्र एवं एकरस है। अतः ठोकरें खाने पर भारत ने सीखना प्रारंभ किया। भारतीय समाज के ऐसे भयंकर रोगों का आधुनिक काल में प्रथम उपचार राजा राममोहन रॉय ने १९वीं सदी के प्रारंभ में किया। विवेकानंद, गोखले,

रानडे, फुले, आगरकर, दयानंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नारायण गुरु, गांधी, आम्बेडकर आदि ने उसे आगे बढ़ाया। इससे अस्पृश्यता का एवं जाति-भेद का गढ़ हिल गया। आजाद भारत में अस्पृश्यता कानूनन जुर्म है। हिन्दू-समाज के दिमाग में से अस्पृश्यता यद्यपि निकल-सी गयी है, फिर भी व्यवहार में वह अभी भी कितनी ही बार अपने घिनौने स्वरूप में प्रकट होती है। इन दिनों हरिजनों पर जगह-जगह सवर्णों के हमले हो रहे हैं। कई बार इनका कारण आर्थिक शोषण होता है, सामाजिक भेदभाव नहीं। इन आर्थिक स्फोटों को राजनीतिक दल या अन्य स्वार्थी तत्त्व सामाजिक रूप देते हैं। कई बार अस्पृश्यता के बारे में पुराने विचार भी इन स्फोटों का कारण होते हैं, इसे नकारा नहीं जा सकता। अभी-अभी बिहार में बागमती नदी में रेल-दुर्घटना के कारण कई प्रवासी गिरे और मर गये। स्थानीय लोगों ने उनके शव नदी से निकालने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि पता नहीं कि ये किस जात के हैं। इन्हें हाथ कैसे लगाया जाय ? ये घटनाएँ किसी भी संस्कृति के लिए कलंकरूप हैं। पिछले दिनों तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम् में सैकड़ों हरिजन मुसलमान बने। इस धर्मांतर के पीछे हरिजनों का सवर्णों द्वारा किया जानेवाला छल या अरब राष्ट्रों का पैसा, जो भी रहा हो, लेकिन इसके बाद सवर्णों को अब चेतना चाहिए। सवर्णों को चाहिए कि वे अस्पृश्यता को पुराने जमाने की गलती मानते हुए, आचार में से जड़मूल से उखाड़ फेंकें; अन्यथा ऐसी खंडित मनस्कता पोसनेवाली विकृतिभरी संस्कृति टिक नहीं सकेगी।

जातिभेद—'समाज' शब्द का अर्थ 'साथ-साथ चलनेवाला समुदाय होता है। भारत में अभी ऐसा समाज बनना है। जो बात अस्पृश्यता को लागू है, वही जातिभेद को भी लागू। इसके लिए जगह-जगह सब जातियों के एवं विभिन्न धर्मियों के सार्वजनिक रूप से सहभोज होने चाहिए। महाराष्ट्र में 'एक गाँव एक पनघट' नाम का आन्दोलन चल रहा है। जगह-जगह, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में ऐसे अभियान शुरू होने चाहिए। सब

मन्दिर, कुएँ एवं अन्य सार्वजनिक स्थान सबके लिए खुले होने चाहिए। जातिभेद तोड़ने के लिए आन्तरजातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसे विवाह होते थे। बीच के काल में वे निषिद्ध माने गये। फिर अब बड़े पैमाने पर ऐसे विवाह होने चाहिए। करीब दो हजार वर्ष पूर्व शैवों में और वैष्णवों में चलनेवाले झगड़े आज समाप्तप्राय हैं। विवाह-सम्बन्ध तय करने में कौन वैष्णव है और कौन शैव, इसे कोई नहीं पूछता। बल्कि पंजाब, राजस्थान या गुजरात में कई बार पति-पत्नी में से एक हिन्दू रहता है तो दूसरा सिक्ख या जैन होता है। आचार्य कृपालानी ने एक बार कहा था कि सिंध में सौ साल पूर्व हिन्दू-मुसलमानों के बीच ऐसा होता था। उनके अपने दादाओं में से कई हिन्दू थे और कुछ मुसलमान। अतः जातिभेद व धर्मभेद की दीवार ढहनी चाहिए। वैसे ही आदिवासियों की विशेषता को और विविधता को कायम रखते हुए उनके साथ शेष समाज की एकरसता होनी चाहिए।

सर्व-धर्म-समभाव—हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और बौद्ध, दुनिया के इन चार प्रमुख धर्मों के लोग भारत में लाखों-करोड़ों की संख्या में हैं। सब धर्मों के मूल नीति-तत्त्व समान हैं। देश-काल के भेद से कुछ विविधताएँ भी हैं। कुछ विचित्रताएँ और अवैज्ञानिक बातें भी हर धर्म में हैं, क्योंकि विज्ञान उस जमाने में आज जैसा उन्नत नहीं था। लेकिन ये बातें धर्म का हार्द नहीं हैं। समान नीति-तत्त्व और आध्यात्मिकता धर्म का हार्द है। हर धर्म की अपनी कुछ विशेषता है, जैसे हिन्दुओं के चिन्तन की व्यापकता एवं उदारता, मुसलमानों का बिरादराना-भाईचारा, बुद्ध-धर्मावलम्बियों की वैज्ञानिकता एवं मध्यम-मार्ग, जैनियों का स्याद्वाद या अनेकांत, ईसाइयों का प्रेम एवं सेवा-भाव है। ये सब मानव-जाति की जतन करने योग्य और अनुकरणीय निधियाँ हैं। हमारा सौभाग्य है कि भारत में ये सब धर्मावलम्बी रहते हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि एक ही जाति के पेड़ जंगल में हों तो

जंगल अच्छी तरह से नहीं बढ़ता। विविध जातियों के पेड़ होने से वह ज्यादा फलता-फूलता है। यही बात विभिन्न धर्मों को लागू है। इस मामले में भारत भाग्यवान् है।

कालान्तर में सब धर्मों में कुछ न कुछ खराबियाँ भी घुस आयी हैं। कितना भी साफ-सुथरा घर रहे, दिनभर में वहाँ कुछ कूड़ा-कचरा होगा ही, जिसे सुबह-शाम निकाल देना पड़ेगा। इस राष्ट्र में धर्म के कारण से कोई बहुसंख्यक और कोई अल्पसंख्यक नहीं माना जाना चाहिए। सब भारतीय हैं–धर्म चाहे जिसका जो हो–हर धर्मावलंबी अपने को श्रेष्ठ मानता है और दूसरे को कनिष्ठ मानता है। कोई धर्म श्रेष्ठ और कनिष्ठ नहीं है। सब समान हैं। सर्व-धर्म-समभाव की यह बात सबके गले उतर जाय तो सद्भावना बढ़कर राष्ट्र व संस्कृति बलवान् होगी। अतः सब प्रमुख धर्मों की मुख्य जानकारी सबको होनो चाहिए। दीवाली, होली, ईद, बड़ा दिन, बुद्ध-पूर्णिमा, पर्युषण-पर्व ऐसे महोत्सवों में सबको भाग लेना चाहिए। इससे सद्भाव के साथ-साथ अनुराग में भी वृद्धि होगी।

हिन्दू-मुस्लिम, हिन्दू-बौद्ध या हरिजन दंगे कभी-कभी दुर्भाग्य से होते हैं। हमने ऐसा मान लिया था कि गांधीजी की शहादत ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न समाप्त हो गया है, पर यह हमारा भ्रम ही सिद्ध हुआ। सदियों के अज्ञान और राग-द्वेष को मिटाने के लिए ५०-१०० साल तक अनवरत कार्य करना होगा। दंगों में गरीब, बेकसूर मारे जाते हैं और सम्पत्ति की हानि होती है। दंगा समाप्त होने के बाद रह जाती है–द्वेष एवं घृणा की स्मृतियाँ, जो अतर्मन को हर समय कुरेदतो रहती हैं। अतः दंगा होने न पाये–ऐसा वातावरण बनाना आवश्यक है। इसके लिए तनाव के तात्कालिक कारणों की जाँच कर उन्हें फौरन दूर करना होगा और कभी-कभार दंगा हुआ तो शांति-कार्य एवं पुनर्वास का काम करके टूटे हुए दिलों को जोड़ना होगा। यह महान् कार्य करने का दायित्व

सब प्रबुद्ध जनों का है। इसीके साथ-साथ सभी राजनीतिक दलों को ऐसा निश्चय करना चाहिए कि हम कौमी तनाव फैलाकर कोई राजनीतिक लाभ नहीं उठायेंगे। चुनाव में ऐसी भावनाएँ न उभारी जायँ। इस प्रकार की आचार संहिता बनाकर उस पर कड़ाई से अमल होना चाहिए। बिना ऐसा किये भारतीय संस्कृति फल-फूल नहीं सकेगी।

आरक्षण का प्रश्न—तथाकथित अल्पसंख्यकों को एवं पिछड़ी हुई जातियों की कुछ शिकायतें एवं कुछ पूर्वग्रह हैं। इनमें से कुछ जायज एवं कुछ अज्ञान के कारण हैं। इनकी जाँच करने के उपरान्त सही कारणों का फौरन उपाय किया जाना चाहिए। जैसे, मुसलमान, हरिजन, पिछड़ी जातियों एवं आदिवासियों को लगता है कि भारतीय समाजकारण में जनसंख्या की तुलना में उनको पर्याप्त स्थान नहीं है। लोकसभा, विधान-सभाओं में, न्यायपालिका में, पुलिस में, अन्य सरकारी सेवाओं में, इंजीनियरिंग-मेडिकल कॉलेजों में, गत ३५ वर्षों में, उन्हें पर्याप्त परिमाण में मौका नहीं दिया गया। इसमें कुछ तो सचाई है, सदियों के पिछड़ेपन का परिणाम है और कुछ अतिशयोक्ति है। जायज कारण दूर किये जाने चाहिए और उन्हें कुछ परिमाण में आरक्षण मिलने चाहिए।

आरक्षण के कारण कुछ विकृतियाँ पैदा हुई हैं। जैसे, हरिजनों में थोड़े से शिक्षितों का एक नया वर्ग पैदा हुआ है और एक ही परिवार को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सहूलियतें मिलती जा रही हैं। अतः जिन्हें सहूलियत मिली, उनकी दूसरी पीढ़ी को सहूलियत नहीं मिलेगी, ऐसी नीति बननी चाहिए। इसके साथ-साथ इन सहूलियतों की जरूरत न होने पर इन्हें छोड़ने की तैयारी पिछड़े हुए वर्गों को भी करनी चाहिए। गुजरात के उच्च सेवा के सरकारी अधिकारी श्री सोलंकी ने गत वर्ष ऐसी तैयारी बताकर हरिजन के नाते मिलनेवाली तरक्की का त्याग करके स्तुत्य उदाहरण पेश किया है। वैसे ही, तथाकथित उच्च जातियों में होशियार

गरीब विद्यार्थियों पर अन्याय न हो और उन्हें विद्यालयों में उचित प्रवेश एवं नौकरी में स्थान मिले–यह भी देखना चाहिए।

असुरक्षा—इन दिनों समाज-जीवन में असुरक्षा एवं हिंसा बढ़ रही है। महिलाएँ अन्धेरा हो जाने पर बाहर नहीं निकल सकतीं। दिन-दहाड़े डाके पड़ रहे हैं। ट्रेनें एवं बसें रोककर लूटी जा रही हैं। कई पुलिस रक्षक के स्थान पर भक्षक बन रहे हैं! ऐसी घटनाएँ घटती रहती हैं। अतः सरकारी तन्त्र तो दक्ष एवं स्वच्छ हों ही, साथ-साथ गाँवों में एवं नगरों के मुहल्लों में नागरिकों के, खासकर युवकों के सुरक्षा-दल स्थापन होने चाहिए। किसी भी स्थान पर असामाजिक तत्त्व यानी गुंडे संख्या में कम रहते हैं। सज्जन, तटस्थ या उदासीन रहते हैं और उनकी संख्या बहुत ज्यादा होती है। लेकिन बहुतेरे सज्जन असंगठित एवं निष्क्रिय रहते हैं। थोड़े से गुंडे सक्रिय एवं संगठित रहते हैं। 'मुझे उससे क्या करना है?' इस प्रकार की उपेक्षा, उदासीनता या तटस्थता को छोड़कर सज्जनों को सक्रिय एवं संगठित होना चाहिए। अन्याय को ललकारकर उन्हें सामान्य जनों का नेतृत्व करना चाहिए। इसके साथ-साथ उन्हें असामाजिक तत्त्वों को भी समझाना चाहिए। ऐसे लोग बेकार हों तो उन्हें धन्धा दिलाना चाहिए। सद्भावना पैदा करना सरकार के बस की बात नहीं है। सद्भावना पैदा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है।

दहेज—सामाजिक समस्याओं में एक बहुत बड़ी समस्या दहेज की है। सन् १९६४ में केरल की बिजली नाम की लड़की ने इस प्रश्न को लेकर अपने प्राण समर्पण कर दिये! इस प्रश्न ने आज भयंकर रूप धारण कर लिया है। इसकी रोकथाम करने के लिए युवकों को एवं युवतियों को आगे आना चाहिए। दहेज और शादी में फिजूलखर्ची के कारण गरीब आदमी को साहूकार से सूद पर ऋण लेना पड़ता है और वह न दे पाने के कारण उसे दाने-दाने के लिए मोहताज होना पड़ता है। आज शादी का अर्थ हो गया है—बरबादी!



साहूकार के पंजे में

अन्य कुरीतियाँ—सारा समाज कई कुरीतियों से अकारण पीड़ित है। बालविवाह, वृद्धविवाह, अनुपयुक्त विवाह, महिलाओं का असमान दर्जा, अन्धविश्वास आदि की रूढ़ियाँ फैली हैं। इनमें सुधार आवश्यक है। सदियों का कूड़ा-करकट हटाना चाहिए। इन रूढ़ियों पर प्रहार करने-वाले सुधारकों की एवं महापुरुषों की हिन्दुओं में एक लम्बी मालिका है। ईसाई-धर्म में प्रोटेस्टंट एवं क्वेकर पंथ ने सुधार की हवा बहायी है। इस्लाम में अतीत में सूफी सन्तों ने और वर्तमान में हमीद दलवाई जैसे लोगों ने ऐसी हलचल शुरू की। ऐसे सुधारक हर धर्म में बड़ी संख्या में पैदा होने चाहिए और सारा समाज आलोडित होना चाहिए। कुछ जमातों में बहुपत्नीत्व धर्मसंगत माना जाता है। विवाह में बुरका, घूंघट, फिजूल-खर्ची आदि इतिहास की बात हो जानी चाहिए। ये सब कुरीतियाँ

कालबाह्य हैं। मुस्लिमों को तलाक के बारे में पुनर्विचार करना चाहिए। समाज-सुधारक का काम दीर्घकालीन परिश्रम माँगता है। इसमें तड़क-



शादी नहीं, बरबादी !

भड़क नहीं रहती। लेकिन यह सारा किये बिना सुखी एवं स्वस्थ समाज का निर्माण सम्भव नहीं है।

सात्त्विक मनोरंजन—स्वस्थ, सात्त्विक मनोरंजन का समाज-जीवन में अपना विशिष्ट स्थान है। कामुकता, अश्लीलता इत्यादि से उसका कोई वास्ता नहीं है, बल्कि ये बातें विकृत मनोवृत्ति का लक्षण हैं। अतएव ऐसे फिल्म, पोस्टर, विज्ञापन आदि के विरुद्ध जिहाद बोलना चाहिए। ऐसे सिनेमा तो व्यभिचार एवं चोरी-डकैती प्रशिक्षण के विद्यालय ही बन बैठे हैं। इस बारे में लोक-शिक्षण निरन्तर चलना चाहिए और कानून का भी सख्ती से पालन होना चाहिए।

व्यसन—स्वस्थ समाज निर्व्यसनी होता है। आजकल भारत में शराब बढ़ रही है। एक तप तक नागरिकों के आन्दोलन के फलस्वरूप राजस्थान में गत वर्ष शराबबन्दी हुई थी। हाल में वह रद्द कर दी गयी। शराब को हिन्दू-मुसलमान एवं बौद्ध धर्मों ने महापातक माना है। लेकिन हमारे देश में इस मामले में पश्चिम की अन्धी नकल की जा रही है। अभिजात-वर्ग में शराब प्रतिष्ठा का प्रतीक-सी बन रही है। बहुत-से शिक्षित शराबबन्दी में नहीं, मितपान में विश्वास करते हैं। आज की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की यही धारणा है। मद्य-पान में बड़ी बुरी बात यह होती है कि एक बार पीना शुरू होने पर वह मितपान पर ठहरता नहीं। वह शराबी का सत्यानाश करके ही समाप्त होता है! १०० में ९५ उदाहरण इस प्रकार के उपलब्ध हैं, फिर भी मितपान के ये समर्थक इससे क्यों नहीं सबक सीखते? अतः सरकार को भारतभर में कानून से शराबबन्दी करनी चाहिए। मतदाताओं का यह कर्तव्य है कि वे इसके लिए जोरदार आवाज उठायें, लोक-शिक्षण करें और शराब की दूकानों पर पिकेटिंग—धरना—करें। शराबबन्दी से सरकार की आय कम होगी, यह आक्षेप निर्मूल है, क्योंकि शराब पर खर्च होनेवाला पैसा तब अन्य चीजों में खर्च होने से बिक्री-कर आदि बढ़ जायेंगे। २-३ सालों में ही शराबबन्दी से होनेवाला घाटा पूरा हो जायगा। शराबबन्दी से गुंडागर्दी, मोटर और रेलवे की दुर्घटनाएँ आदि कम हो जायँगी और शराबियों का स्वास्थ्य अच्छा हो जायगा, जिससे अन्य मदों पर सरकार का खर्च कम होगा। गुजरात, तमिलनाडु आदि शराबबन्दीवाले राज्यों में ऐसे अनुभव आये हैं। इसके साथ-साथ उत्पादन भी बढ़ेगा, जो शुद्ध लाभ होगा।

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व शराब का भारत में कुछ प्रचलन था। लेकिन अंग्रेजों ने शराब को सरकार का एकाधिकार बनाकर इस पर कर लेना शुरू किया। तब शराब की खपत बढ़ने में सरकार का निहित

स्वार्थ हो गया। स्वराज्य होने पर हमारी राष्ट्रीय सरकार ने अंग्रेजों की इस नीति को जारी रखा। अब तो एक कदम आगे बढ़कर लॉटरी भी सब राज्यों में शुरू हो गयी है। लॉटरी जुए का ही राष्ट्रीयकरण है। अब केवल वेश्यागिरी को सरकार की आय का साधन बनाना बाकी है! समझ में नहीं आता कि हम इस फिसलन पर हँसें कि रोयें! गांधीजी ने कहा था कि मेरे हाथ में एक घंटे के लिए सत्ता आ जाय तो मैं पहला काम शराब को बंद करने का ही करूँगा। लेकिन अब उलटी गंगा बह रही है। सन् १९४७ में आबकारी कर से ५० करोड़ रुपये आमदनी थी, जो अब १००० करोड़ से ऊपर हो गयी है। भारत के पड़ोसी चीन ने अपने देश में अफीम खाना बंद करवाया है और पाकिस्तान ने शराब। पर हमने अपने यहाँ शराब की खपत को अन्धाधुन्ध बढ़ाया है। धन्य हैं हम!

मातृभाषा और राष्ट्रभाषा—मातृभाषा का प्रेम स्वाभाविक है। राष्ट्र के रूप में हमें जिन्दा रहना हो, तो समाज-जीवन में राष्ट्रभाषा हिन्दी को उसका उचित स्थान देना ही होगा। इन दोनों के स्थान पर पिछले ३५ सालों में अंग्रेजी की शिक्षा बढ़ी है। इससे हमारी सरकार, शिक्षा-संस्थाएँ एवं अभिजात-वर्ग समाज से बिछुड़ गये हैं। मेकॉले ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा शुरू करते समय भविष्यवाणी की थी कि उसके इस कदम से स्वतंत्रता, लोकतंत्र आदि राजनीतिक विचारों का प्रसार होकर भारत एक दिन स्वतंत्र हो जायगा; लेकिन साथ-साथ वह अंग्रेजी संस्कृति का उपासक भी हो जायगा। आज यही हो रहा है। अंग्रेजी में बोलना आज फैशन बन गया है। आज माँ-पिताजी कहने के बजाय मम्मी-पप्पा, ये शब्द प्रतिष्ठा के सूचक बन रहे हैं। हिन्दी फिल्में देखने पर एवं हिन्दी बोलने पर नैनीताल में क्या हुआ, यह हमने पहले देखा है। एक स्वतंत्र राष्ट्र के लिए इससे ज्यादा शर्मनाक बात और क्या हो सकती है! राष्ट्रभाषा के तौर पर दो-तीन हजार शब्दों की बुनियादी हिन्दी बनाकर इसका प्रसार हम करें, जिससे कि आंतरप्रान्तीय आवा-

गमन और वैचारिक लेन-देन सुलभ हो। हमारा सारा कारोबार मातृ-भाषा में एवं राष्ट्रभाषा में चलाने की हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिए। सब भाषाओं की अपनी-अपनी विशिष्ट लिपि के साथ साथ उसकी नागरी लिपि में भी लिखावट चालू कर दी जाय तो आन्तरप्रान्तीय वैचारिक लेन-देन सुलभ होकर राष्ट्रीय एकात्मता बढ़ेगी।

भ्रष्टाचार—भ्रष्टाचार ने जीवन के हर अंग में प्रवेश कर हमारा जीवन खोखला बना डाला है। अब भ्रष्टाचार शिष्टाचार बन गया है। इससे लड़ने के लिए नागरिकों को आगे आना चाहिए। यदि ठीक से प्रचार किया जाय और इसके विरुद्ध सामूहिक अभियान चलाया जाय तो कुछ सरकारी कर्मचारी एवं व्यापारी भ्रष्टाचार छोड़ देंगे। जो सज्जन हैं, उनका साहस बढ़ेगा। कोई व्यक्ति यदि भ्रष्टाचार में शामिल न हो तो ऐसे व्यक्ति का अन्य सरकारी अधिकारी स्थानांतरण करवा डालते हैं या दिन-रात उसका मखौल उड़ाकर उसकी जिन्दगी हराम कर डालते हैं। फिर वह भी फिसल जाता है। भ्रष्टाचार की गंगोत्री चुनाव में है। अत चुनाव-सुधार आवश्यक कदम है। गुजरात में एवं बिहार में नौजवानों ने सन् १९७४ में इसके खिलाफ आंदोलन शुरू किया था। वह काम पूरा नहीं हुआ। उसे पूरा करना समय की माँग है।

गलत मूल्य—सामाजिक प्रतिष्ठा और नित्य नवीनता के आकर्षण के चलते कभी-कभी समाज में गलत मूल्य स्थापित हो जाते हैं। जैसे, रक्षा के लिए शरीर पर कपड़ा चाहिए। गरमी के दिनों में गरमी से बचानेवाला, पसीना सोखनेवाला, ढीला और सूती कपड़ा और जाड़े के दिनों में ठंड से बचानेवाला, कुछ कम ढीला और ऊनी कपड़ा चाहिए। आजकल का निकला नायलॉन टेरीकॉट धूप में तपता है, जाड़े में ठंडा पड़ता है और पसीना सोखने की शक्ति नहीं रखता है। यह कपड़ा जल्दी आँच पकड़ता है। अगर शरीर पर ऐसा कपड़ा हो और वह आँच पकड़ ले तो वह शरीर से चिपक जाता है। चर्म-रोग को भी वह बढ़ावा देता है। इतने अवगुणों के बावजूद यह कपड़ा महँगा और प्रतिष्ठा-प्राप्त है।

यही हाल मकानों का है। मिट्टी के मकान गरमी में ठंडे और जाड़े में गरम रहते हैं। आजकल सुविधा के नाम से सारे मकान सीमेंट से बनने लगे हैं। सीमेंट के घर गरमी में अधिक तपते हैं और जाड़े में अधिक ठंडे होते हैं।

गरीबों के साथ तादात्म्य नहीं—श्री गुन्नार मिरड़ल ने 'दुनिया को गरीबी की चुनौती' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है कि नवशिक्षित तरुण अपने अभिजात-वर्ग के ढाँचे से इस प्रकार मानसिक रूप से बँध जाते हैं कि ये अपने राष्ट्र के गरीबों के साथ गहरी आत्मीयता अनुभव नहीं कर सकते हैं। इस विकृति को दूर हटाने के लिए चीन में हर स्नातक को तीन साल में से एक साल देहातों में जाकर काम करना पड़ता था। इससे धरती से उनका संबंध बना रहता था।

गाय : संस्कृति की प्रतीक—हम मानव पशुओं के सहयोग के बिना जिन्दा नहीं रह सकते हैं। पशुओं के सहयोग से आनन्द भी मिलता है। अतः भारत के पूर्वजों ने सब दृष्टियों से उपयोगी पशु गाय को चुना और उसे समाज-जीवन में स्थान दिया। पशु-सृष्टि से मधुर सम्बन्धों का गाय प्रारम्भ है। अतः वह अवध्य बनी। उसकी हत्या अविलंब बंद होनी चाहिए। यह केवल आर्थिक प्रश्न नहीं है, सांस्कृतिक प्रश्न भी है। किये हुए उपकारों का स्मरण कर उसकी हत्या न करना कृतज्ञता का लक्षण है। कृतज्ञता को भूल जाने से संस्कृति की हानि होगी।

राष्ट्रीय एकात्मता—आज राष्ट्र खण्ड-खण्ड होने के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। द्रविडिस्तान की बात पुरानी हुई तो खालिस्तान आ गया। कुछ जमातों का भारत के बाहर आशा से देखना, नागालैण्ड, मिझोरम, झारखण्ड के प्रश्न, राज्यों के सीमा-विवाद आदि कई प्रश्न पिछले ३५ सालों में पैदा हुए हैं। ये इसलिए पैदा हुए कि हमारी राष्ट्रीयता दृढ़ बनने के पहले ही हमें स्वराज्य मिल गया। स्वराज्य मिलते ही हमारे सारे पुराने दोष उभरकर ऊपर आने लगे हैं। सर जॉन सीली नामक अंग्रेज

इतिहासकार ने लिखा है कि "हमने भारत को कभी नहीं जीता। हमारे आगमन के समय भारत था ही नहीं। यहाँ पंजाबी, बंगाली, मद्रासी, मराठा, सिक्ख, हिन्दू, मुसलमान, राजपूत, ये सब थे, लेकिन 'भारतीय' कोई नहीं था। हमने व्यापार कर यहीं प्राप्त किये हुए पैसों से यहाँ के ही लोगों को वेतन देकर फौज में भरती किया और प्रशिक्षित किया। यहाँ के राजाओं ने दूसरे भारतीय राजाओं से लड़ाई होने पर हमारी मदद माँगी और हमने दी। परिणामस्वरूप जीतनेवाले पक्ष ने हमें कभी एक प्रदेश, कभी दूसरा, बख्शीश के रूप में दिया। इस प्रकार से भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित हो गया।" क्या सीली का यह कथन सत्य नहीं है ?

गांधी ने इस सत्य को पहचाना और उसके खिलाफ भारत में राष्ट्रीयता की भावना और सांस्कृतिक भावना जगानी शुरू की। राष्ट्रीयता के उसी बचे हुए कार्य को हमें आगे बढ़ाना है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने अमर काव्य में '**एइ भारतेर महामानवेर सागरतीरे**' में इतिहास का उदाहरण देकर गाया है कि यहाँ आर्य, अनार्य, शक, हूण, पठान, मुगल सब आये और एक देह में–भारत माता के शरीर में–लीन हो गये। अब यूरोप से पुर्तगीज, फ्रेंच एवं अंग्रेज आये हैं। आखिरी पंक्ति में वे कहते हैं—

एसो (आवो) हे आर्य, एसो अनार्य
हिन्दु-मुसलमान,
एसो एसो आज तुमी इंगराज,
एसो एसो ख्रिष्टान,
एसो ब्राह्मण, शुचि करी मन,
धरो हात सबाकार,
एसो हे पतित, करो अपनीत,
सब अपमानभार,
मार अभिषेके एसो एसो त्वरा,

मंगलघट होय निजे भरा,
सबार परसे पवित्र करो, तीर्थनीरे,
एइ भारतेर महामानवेर सागरतीरे !

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्राह्मण के लिए मन को शुद्ध करने की और उसके परिणामस्वरूप व्यवहार में सबका हाथ पकड़ने की यानी अस्पृश्यता-निर्मूलन की शर्त लगायी है और तब इस अभिषेक में आओ, ऐसा कहा है। अंत्यजों को कहा कि तुम्हें भी इस शर्त पर आना है कि सदियों के अपमान से पैदा हुई हीन-भावना के भार को तुम फेंक दो और आओ ! आओ, आओ ! माता का अभिषेक हो रहा है। सदियों से यह चल रहा है। इसलिए जल्दी करो। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे आने के पहले ही मंगलघट भर जाने से अभिषेक समाप्त हो जाय और तुम रह जाओ। सबके स्पर्श से पवित्र होना है। भारत के विविध मानवों का यह पवित्र सागरतीर है। यह है, भारत माता के सांस्कृतिक मिशन का, कविवर का भव्य एवं दिव्य स्वप्न। ऐसी सर्वसमावेशक राष्ट्रीय एकात्मता को पैदा कर दुनिया के लिए भारत अपना विशिष्ट जीवन-कार्य पूरा करे। ●

१३. अर्थनीति

प्रश्न उठता है कि आजादी के बाद ३५ साल सरकार की जैसी अर्थ-नीति चली, वैसी ही चलती रही तो क्या राष्ट्र बलशाली होगा और लोग सुखी होंगे ? दुनिया में करीब ३०० राष्ट्र हैं, उनमें भारत का गरीबी में नीचे से ९वाँ नंबर है।[४५]

विषमता—गाँव और शहर के भीतर भयंकर आर्थिक विषमता है, यह नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा।[४६] संपत्ति के विषम वितरण के

कारण आज जो भी सहूलियतें दी जाती हैं, वे सब ऊपर के वर्ग के पास चली जाती हैं।

नीचे से जनसंख्या का १०वाँ हिस्सा प्रतिशत में	कुल उपभोग में नगरवासियों का प्रतिशत खर्च	कुल उपभोग में ग्रामवासियों का प्रतिशत खर्च
०–१०	२.७	३.३
१०–२०	४.२	४.८
२०–३०	५.३	५.९
३०–४०	६.४	६.९
४०–५०	७.५	८.०
५०–६०	८.८	९ २
६०–७०	१०.४	१०.६
७०–८०	१२.६	१२.५
८०–९०	१६.०	१५ ४
९०–१००	२६.१	२३.५

इसलिए जो ऊँचा है, उसे सहूलियत देने के बजाय आखिरी व्यक्ति को ऊँचा उठाने की दृष्टि रखनी चाहिए। उदाहरण के लिए, सिंचाई कार्यक्रम में छोटे किसानों को एवं व्यापारी फसलों की तुलना में अनाज की फसलों को प्राथमिकता देने से आर्थिक विषमता कम होने में मदद मिलेगी। आय के एवं जमीन-संपत्ति के इस विषम वितरण से गरीब दब जाता है और नसीब को दोष देकर विषमता स्वीकार कर लेता है। ८० प्रतिशत गरीबों का यह रुख इनके विकास में सबसे बड़ा प्रतिरोध है। अतः उन्हें जगाना होगा और अन्य संपत्ति का विषम ढाँचा बदलना होगा।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ एवं गलत आयात-निर्यात-नीति—देश की अर्थ-नीति ऐसी हो, जिससे देश पर का बहुराष्ट्रीय कंपनियों का शिकंजा

समाप्त हो जाय। विदेशी ऋण देश के विकास के लिए कहाँ तक लिया जाय ? सन् १९४७ के समय के २००० करोड़ रुपये के जमा स्टर्लिंग हमने खतम कर दिये हैं और आज वह ऋण १७,६५४ करोड़ रुपया हो गया है। उसके ब्याज में ही सन् १९७६-७७ में ७६१ करोड़ यानी हमारा निर्यात का छठा हिस्सा जाता है।[४७] विदेशी ऋण के अनेक कारणों में से एक कारण गलत आयात-नीति है। इस देश में पर्याप्त अनाज उपलब्ध होने पर भी गत वर्ष लाखों टन गेहूँ विदेशों से १८० रु० प्रति क्विंटल दर पर आयात किया गया है। आज के १३० रुपये प्रति क्विंटल के बजाय १८० रुपये प्रति क्विंटल देश के किसानों को दिया जाय तो मंडियों में जरूर गेहूँ आयेगा। लेकिन सरकार ऐसा नहीं कर रही है। अपने देश के किसानों को कम कीमत देकर विदेशों को अधिक कीमत देने में कौनसी बुद्धिमानी है, समझ में नहीं आता। गरीबी इतनी भयंकर है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में गेहूँ की फसल काट लेने पर पशुओं द्वारा खाये हुए जो दाने उनके गोबर में से निकलते हैं, उन्हें गोबर में से बीनकर, उन्हें धोकर, उनकी रोटी बनाकर उसे खानेवाले हजारों लोग आज भी मौजूद हैं। उन्हें 'गोबरी' कहा जाता है। बिहार में पूर्णिया जिले में सन् १९७३ में मेनमा गाँव में घोंघे पर एक-एक माह जिंदा रहनेवाले लोग देखे गये हैं। खेत में धान की लहलहाती फसल है। सरकारी गोदाम में अनाज संग्रह करने की जगह नहीं है, लेकिन लोगों के पास, न होने से वे अनाज खरीद नहीं सकते। इसलिए घोंघे पर आधा गाँव माहभर जिंदा रहता है। ऐसा हमने अपनी आँखों से देखा है।

महँगाई—सामान्य आदमी की पहली समस्या महँगाई की है। सन् १९६०-६१ की तुलना में जीवन-निर्वाह के खर्च का सूचकांक २७९ है।[४८] लेकिन इसका लाभ प्राथमिक उत्पादक को मिलकर, उसका घाटा कम होने के बजाय बिचौलिये एवं शहर के कारखाने के मालिक हड़प रहे हैं।

किसान को आज के फसल के भाव पुसाते नहीं, यह हमने देखा है। गलत अर्थनीतियों के कारण महँगाई बढ़ती है, क्योंकि जिन कारणों से महँगाई बढ़ती है वे कारण कम नहीं हो रहे हैं। केन्द्रीय एवं राज्य-सरकारें अनापशनाप अनुत्पादक खर्च करती हैं और उनकी पूर्ति के लिए बड़ी संख्या में नोट छापती चलती हैं। सन् १९७९-८० में योजना-आयोग ने ८३५ करोड़ रुपयों का केन्द्रीय घाटा स्वीकृत किया था। सरकार ने १२०० करोड़ रुपयों का घाटा किया। सन् १९८०-८१ में यह घाटा बढ़कर १८०० करोड़ हो गया। सन् १९८१-८२ में घाटा ४००० करोड़ रुपयों के ऊपर जाने का अनुमान है। घाटा-पूर्ति के लिए सरकार बड़ी संख्या में नोट छापती है, जिससे महँगाई बढ़ती जाती है।

एशिया के खेल इस वर्ष भारत में होने जा रहे हैं। उनके लिए आज की भारत की स्थिति को देखते हुए अनावश्यक ५०० करोड़ रुपये खर्च होंगे। तेल की आपूर्ति की समस्या उत्तरोत्तर कठिन हो रही है और उसके लिए ५,५०० करोड़ रुपयों की विदेशी मुद्रा खर्च करनी पड़ेगी। सरकार की कर वसूल करने की और खर्च करने की केन्द्रित पद्धतियों के कारण रुपये में २५ पैसे का लाभ जनता को मिलता है, ऐसा भूतपूर्व राज्यपाल डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या ने एक व्याख्यान में कहा था। जलाशय का पानी खेत तक जाते-जाते बीच की सूखी नाली पी जाती है और खेत तक चौथाई पानी ही पहुँचता है, ऐसा यह किस्सा है।

इस भीषण महँगाई के कारण गरीब की वास्तविक आय कम होती जाती है। इसलिए कुपोषण बढ़ रहा है। सन् १९६१-६२ में भोजन में २५११ कैलरी का औसत था, सन् १९७६-७७ में वह केवल १९४९ रह गया। खाद्य की उपयोग-पद्धति में भी सुधार होना चाहिए, जिससे कम आय में या थोड़े अन्न में अधिक पोषण मिले। इसके लिए सलाद, अंकुरित अनाज का प्रचलन बढ़ना चाहिए।

काला धन—पिछले वर्षों में कर-चोरी एवं भ्रष्टाचार इतने व्यापक

पैमाने पर चलने लगे हैं कि कई वर्षों से काले धन की समानांतर अर्थ-व्यवस्था देश में चलने लगी है। कानूनी धन के बराबर ही काला धन देश में है। शायद इससे कुछ अधिक ही होगा, ऐसा लोगों का अंदाज है। इसके लिए धनवानों के स्वार्थ के साथ-साथ मानव-स्वभाव के विपरीत गलत सरकारी नीतियाँ भी उत्तरदायी हैं। राजनेता, सरकारी अधिकारी, उद्योगपति एवं व्यापारी, इन चारों की साठ-गाँठ से काला धन खुले आम बढ़ता चल रहा है। यह धन सरकार की कीमतों पर नियंत्रण पाने की नीति को विफल बना डालता है। इसको असफल करने के लिए सरकार द्वारा नियुक्त की हुई वांचू-समिति ने कई बार तफसीलवार सुझाव दिये थे, लेकिन सरकार ने इनका क्रियान्वयन नहीं किया। अभी सन् '८०-'८१ में काले धन के स्वैच्छिक समर्पण के लिए 'बेअरर-बाँड' की योजना अर्थमंत्री ने चलायी थी और स्वेच्छा से समर्पण करनेवाले को इस धन का स्रोत नहीं पूछा जायगा, ऐसा आश्वासन भी दिया था। 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया' वाली कहावत चरितार्थ हुई। कल्पना थी कि इस योजना से कई हजार करोड़ रुपये बाहर आयेंगे। लेकिन केवल ३०० करोड़ रुपया बाहर आया। कई गण्यमान्य अर्थशास्त्रियों एवं स्वयं केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की समिति ने ऐसा कार्य कर चोर को साहूकार का दर्जा न देने की सिफारिश की थी। यह अनैतिक कृत्य तो हुआ ही, अव्यावहारिक भी सिद्ध हुआ।

महँगाई की इस अर्थनीति से गरीब और अधिक गरीब होते चले जा रहे हैं। अमीर और अधिक अमीर होते जा रहे हैं। १० प्रतिशत लोग गरीब ही नहीं, कंगाल हो गये हैं। इन्हें मौत नहीं आती, इसीलिए वे जिन्दा हैं। फिर भी प्रधानमंत्री बार-बार कहती रहती हैं कि भारतभर में कहीं भी भूखे बच्चे का चेहरा उन्हें देखने को नहीं मिला! जिस अर्थनीति के कारण—

१. बेजमीनों की संख्या एवं प्रतिशत बढ़े,

२. परंपरागत एवं आधुनिक अर्थनीति में टकराहट होने के कारण गाँव के कारीगर बेरोजगार हों,

३. धनवान् अधिक धनवान् हों, और गरीब अधिक गरीब हों,

४. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का देश पर शिकंजा मजबूत हो,

५. जनता की आवश्यकता के बजाय निर्यात-व्यापार की अनुकूलता अर्थनीति देखे,

६. विलासिता और फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन दिया जाय,

७. विदेशी कर्ज के भार से दिन-ब-दिन देश की कमर झुकती चली जाय,

८. देश के जंगल, खनिज आदि की इस पीढ़ी का तात्कालिक हित ख्याल में रखकर, बेतहाशा बरबादी हो और भावी पीढ़ियों को भाग्य-भरोसे छोड़ दिया जाय,

९. प्राकृतिक नियमों के साथ दखलंदाजी कर हवा और पानी दूषित होता चला जाय,

१०. बड़े कल-कारखानों के कारण बेरोजगारी बढ़े और बड़े कल-कारखानों की उत्पादन-क्षमता के ४० प्रतिशत का उपयोग ही न हो, (क्योंकि आर्थिक विषमता के कारण उनके माल की माँग न हो)

११ जिसमें सामान्य आदमी की आवाज क्षीण होती जाय और बड़े-बड़े आर्थिक संगठनों की आवाज अर्थनीति को अपने स्वार्थ के अनुरूप मोड़ सके,

१२. जिसके कारण काला पैसा एवं भ्रष्टाचार बढ़ता चला जाय और

१३. गाँव उजड़े और नगरों में झुग्गी-झोपड़ियाँ बढ़ती चली जायँ, ऐसी अर्थनीति वैज्ञानिक और सही है, यह कौन कहेगा? बड़े खेद की बात है कि आज भारत की अर्थनीति ऐसी ही है।

परिणाम—इसके परिणामस्वरूप चारों ओर गरीबों के दिल में व्यापक निराशा है। बड़े पैमाने पर हिंसा फैलती जाती है, उसका एक कारण यह भी है। आज जिस ढंग से चीजें चल रही हैं, उन्हें देखते हुए सन २००० तक गरीबी की समस्या हल हो जायगी, ऐसा सम्भव नहीं लगता है।[४९]

देश में ८० प्रतिशत लोग अपनी ताकत से अपना जीवन खींचते हैं। फिर भी उन तक पहुँचनेवाली योजनाएँ और मदद केवल एक प्रतिशत ही है।[५०] बल्कि कई बार उत्पादन और वितरण के आधुनिक तरीके एवं निर्णय इन स्वाश्रयी लोगों को बिलकुल ही चौपट कर जाते हैं। अतः परम्परागत एवं आधुनिक औद्योगीकरण की नीतियाँ पूरक बनायी जायँ। वे लोग चूँकि बिखरे हुए हैं और असंगठित हैं, इसलिए लाचार होकर वे इसे सह लेते हैं। अतः इन लोगों को संगठित करना होगा। कमजोर वर्गों का एवं देहातियों का संगठन अपने-आपमें एक शक्ति बनेगी।

किसान-संगठन—किसानों का ऐसा एक संगठन देश में उभर रहा है। प्राथमिक उत्पादक को लागत-खर्च इतना भाव मिले, यह इसका उद्देश्य है। इस किसान-संगठन के साथ कृषि-मजदूरों की उचित माँगें जोड़ने से वह बलशाली बनेगा। जैसे वर्धा जिले में किसान-मजदूरों का मिला-जुला एक संगठन है, जिसने उत्पादन-खर्च पर आधारित कपास का भाव ७०० रुपया क्विंटल मिले एवं प्रतिदिन मजदूर की मजदूरी ७ रुपया हो, यह संयुक्त माँग की है। इस संगठन को यह भी देखना होगा कि मजदूरों को कानून से निर्दिष्ट न्यूनतम वेतन अवश्य मिले। आज किसान को माल का उचित भाव न मिलने से वह मजदूरों को न्यूनतम वेतन दे नहीं सकता, ऐसा उसका कहना है। संगठन होने से केरल में न्यूनतम वेतन का पालन हो रहा है। अन्यत्र नहीं होता है। केरल में खेतिहर मजदूर-कानून पास हुआ है और उस पर कड़ाई से अमल होता है। अन्यत्र भी

ऐसे कानून बनने चाहिए। गाँव के कच्चे माल से मध्यम तकनीक द्वारा पक्का माल बनाना, अपने उपयोग में गाँव के बने माल को प्राथमिकता देना, गाँव की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन करना, जो माल देहात में बन सकता हो, उसका उपयोग करना, नगरों में बने हुए पक्के माल का बहिष्कार करना आदि कार्यक्रम शामिल करने की दिशा ऐसे संगठनों की होनी चाहिए।

ग्राहक-संगठन—इसी तरह देशभर में ग्राहक-आंदोलन बढ़ना चाहिए। पूना के श्री बिन्दुमाधव जोशी देशभर में इसका संगठन कर रहे हैं। राजनीतिक नेताओं के गलत निर्णयों से एवं उद्योगपति-व्यापारी की मुनाफाखोरी से महँगाई बढ़ेगी। इस संकट का मुकाबला करने के लिए श्री जोशी ने ग्राहक-पचायत संगठन की योजना चलायी है। राजकीय दल सत्ता की छीना-झपटी में व्यस्त है। शासन ग्राहक की लूट रोक नहीं सकेगा। क्योंकि शासन भी आज व्यापारी बनकर शोषण कर रहा है। उसके अपने हाथ भ्रष्टाचार में रँगे हैं, ऐसा लोग खुल्लमखुल्ला कहते हैं। अतः मुनाफाखोरी, मिलावट आदि से लोहा लेने के लिए ग्राहकों को संगठन बनाकर इसका मुकाबला करना होगा। ग्राहकों का शोषण कैसे होता है, इसका उदाहरण देते हुए कम्प्लान का उदाहरण श्री जोशी ने दिया है। कम्प्लान कई प्रकार के अनाजों का भूँजा हुआ आटा है और इसमें कोको की गंध डालकर और रंग देकर विज्ञापन के सहारे से ५२ रु० किलो के भाव से बेचा जाता है। एक किलो कम्प्लान से १२०० कैलरी उष्णता मिलती है, जब कि एक कटोरी चावल और दाल से भी इतनी ही कैलरी मिलेगी और इसकी कीमत २ से ३ रुपया होगी। कितना जबर्दस्त शोषण! हममें से कितनों को इसका पता है? उत्पादन-वृद्धि, वितरण में समता एवं उपभोग में संयम,—यह ग्राहक-आंदोलन की त्रिसूत्री है, ऐसा श्री जोशी ने यवतमाल में एक सभा में कहा था।[५१]

बैंक-ऋण—वितरण की दृष्टि से देखा जाय तो अनाज-वसूली का

सरकारी ढाँचा देशभर में बन गया है और सार्वजनिक बैंकों का एक व्यापक जाल बिछ गया है। ऐसा होने पर भी छोटा किसान महाजन से लिये गये ऋण को चुकाने की मजबूरी में अपनी फसल कटने से पहले ही कम दाम पर बेच देता है। कटाई के दिनों में उसे ज्वार ९० रुपया प्रति क्विंटल बेचनी पड़ती है और फिर जरूरत पड़ने पर वही १६० रुपया या उससे भी ज्यादा प्रति क्विटल के भाव से खरीदनी पड़ती है। दूसरा उदाहरण रिक्शेवाले का लीजिये। राष्ट्रीयकृत बैंक इन्हें रिक्शा-मालिक के शोषण से बचायेंगे, यह योजना बनी थी। कुछ छोड़े से रिक्शा-चालकों को ऋण मिला भी। लेकिन बहुत अधिक छूट गये। आज इन्हें रोज साढे तीन रुपया यानी माह का १०५ रुपया किराये के रूप में रिक्शा-मालिक को देना पड़ता है यानी १२ माह में रिक्शा उनका खुद का हो सकता है। दूसरे शब्दों में, ब्याज की दर यहाँ १०० प्रतिशत हुई। रिक्शा-चालक से बैंक पहले १००–१५० रुपया जमानत माँगता है। गरीब बेसहारा लोग यह रकम कहाँ से लायें और उन्हें जमानत कौन देगा ? अतः वे अपनी पसीने की गाढ़ी कमाई में से रोज साढ़े तीन रुपया रिक्शे के मालिक को देते हैं। १० करोड़ बेरोजगार एवं अर्ध-बेरोजगार लोगों को काम देने के लिए परंपरागत तरीके में प्रतिव्यक्ति १००० रुपया यानी कुल १०००० करोड़ रुपया चाहिए। १० वर्षों में यह बाँटा जाय तो १००० करोड़ रुपया होगा। क्या १ लाख करोड़ रुपयों की योजना में से प्रतिवर्ष १००० करोड़ रुपया बेरोजगारी-निर्मूलन के लिए निकालना कठिन है ? राष्ट्र इस वर्ष ५०० करोड़ रुपया एशियन खेलों पर खर्च करने जा रहा है। रंगीन दूरदर्शन की बातें चल रही हैं। यह बंद कर दस साल का समयबद्ध कार्यक्रम बनाया जा सकता है। हमसे छोटा एवं औद्योगिक दृष्टि से कम विकसित वियतनाम इसे करने जा रहा है, क्योंकि उसने बाजार के लिए उत्पादन के विकास के मॉडल—आदर्श—का त्यागकर आवश्यकताओं के लिए उत्पादन की पद्धति को अपनाया है।

संगठन एक अनिवार्यता—सरकार खुद ऊर्जा, प्रशासनिक ढाँचे की मनमानी आदि के कारण संकट में है। अतः आज अर्थसत्ता का विकेन्द्रीकरण और ग्राम यानी कमजोरों का संगठन, महज एक आदर्श नहीं, एक अनिवार्यता बन गयी है। इसके बिना आर्थिक समस्याएँ काबू में नहीं आयेंगी और अर्थनीति नहीं बदलेगी। इसके लिए लोगों की चेतना को जाग्रत करना होगा। ●

१४. राजनीति

हमने भारत के लिए उचित सामाजिक एवं सांस्कृतिक नीति और अर्थनीति देखी। इन्हें चरितार्थ करने के लिए इनके अनुकूल राजनीति चाहिए। राजनीति में 'नीति' शब्द है, यह कभी नहीं भूलना चाहिए। चाहे जिस प्रकार से राज्य करने की कला या पैंतरेबाजी राजनीति नहीं है। नीतिपूर्वक सत्ता प्राप्त कर सत्ता का उपयोग प्रजा के हित में करना राजनीति है। भारतीय समाज सामान्यतः राजनीति के बारे में उदासीन रहा है। 'कोउ नृप होउ हमें का हानी' वाली सामान्य प्रवृत्ति रही है। अतीत में राज्य-सत्ता का काम शांति एवं सुव्यवस्था कायम रखने तक ही सीमित था। अतः जनता की उदासीनता बहुत खतरनाक साबित नहीं होती थी। राजा राजधानी में रहता था और नीचे गाँव-गाँव में ग्रामराज्य थे। केन्द्रीय राज्यसत्ता को भू-राजस्व देना और लड़ाई के समय अपने जवान बेटे सिपाही के रूप में राज्य को भेजना—इन दो कामों के सिवा केन्द्रीय राज्यसत्ता का ग्राम-राज्य पर कोई अंकुश नहीं था। गाँव-गाँव में विकेन्द्रित ग्रामराज्य अपना सब कारोबार करते थे। केन्द्रीय सत्ता इन ग्रामराज्यों का सम्मान करती थी और उनके खिलाफ नहीं जाती थी।

राज्य के स्वरूप में परिवर्तन—फिर आयी १८वीं सदी में औद्योगिक क्रांति, जिससे केन्द्रित उद्योग आये। फलस्वरूप राज्यसत्ता का भी केन्द्रीकरण होने लगा, लोकतंत्र का उदय हुआ और राज्य का स्वरूप कल्याणकारी राज्य का बना। परिणामस्वरूप जन्म से मृत्यु तक के समूचे जीवन में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ा। इस जमाने में राष्ट्रीयता की भावना जनमी और पनपी। ऐसे सर्वंकष राज्यसत्ता के जमाने में राजनीति के बारे में उदासीनता रखना ठीक नहीं है।

लोकमत-निर्माण की आवश्यकता—वस्तुतः राज्यसत्ता कैसे प्राप्त हो और वह किस दल के हाथ में रहे, यहाँ तक ही राजनीति का अर्थ सीमित नहीं है। सत्ता की राजनीति से एवं दलगत राजनीति से भिन्न एवं इससे अधिक शक्तिशाली लोक की यानी जनता की राजनीति है। आखिर में सारी सत्ता इसी लोकमत के आधार पर तो प्राप्त होती है। लोक की राजनीति चलती है, स्वस्थ लोकमत के निर्माण से। स्वराज्य के पूर्व सारे राष्ट्रीय नेताओं ने इस ओर ध्यान दिया और रचनात्मक कार्य एवं सत्याग्रह के द्वारा लोक-शिक्षण का, स्वस्थ लोकमत का निर्माण किया। स्वराज्य आते ही भारत के राजनीतिक नेताओं ने इस काम को छोड़ दिया और सत्ता हथियाने की आपाधापी में लग गये। गांधीजी लोकमत-निर्माण के सर्वोपरि महत्त्व को जानते थे। उन्होंने अपने आखिरी लेख में कांग्रेस को लोगों की सेवा कर स्वस्थ लोकमत निर्माण करने का निर्देश दिया था।[५२] कांग्रेस ने इसको स्वीकार नहीं किया, न अन्य किसी दल ने। सभी दल सत्ताकांक्षी हो गये हैं। येन केन प्रकारेण सत्ता में आना ही इनका एकमेव कार्यक्रम बन गया है। इन्होंने रचनात्मक कार्य या संगठन या सत्याग्रह भी किये हैं, लेकिन सत्ता प्राप्त करने के साधन के रूप में। परिणाम स्पष्ट है। आज राजनीतिक नेताओं की एवं दलों की विश्वसनीयता समाप्तप्राय है। गांधी ने सात पातकों में प्रथम स्थान सिद्धांत-विहीन राजनीति को दिया था। इसका नंगा नाच आज देश में चालू है।

अतः प्रचंड बहुमत मिलने पर भी केन्द्रीय सरकार आज काम कर नहीं पा रही है एवं विपक्षी दल बिखरे हुए और अनिश्चय की स्थिति में हैं।

हमारा निद्रित लोकतंत्र—ऐसी स्थिति में केवल कानून एवं व्यवस्था के कर्मचारियों के भरोसे पर राज्य-शासन नहीं चल सकता। आवश्यकता है जनता की राजनीति की यानी स्वस्थ लोकमत के निर्माण की। यदि देश में स्वस्थ लोकतंत्र होता तो वह मानवीय स्वातंत्र्य, सत्ता में सबका सहभागित्व, अन्यायों का शांतिपूर्ण निराकरण, आर्थिक एवं सामाजिक समता आदि जीवन-मूल्यों के लिए प्रतिबद्ध होता। ऐसा लोकमत यदि रहता तो क्या आपातस्थिति, एक घराने के राज्य की संभावना, राजनीति का अनैतिक ह्रास, नागरिक-स्वातंत्र्य का अपहरण, न्यायपालिका के अधिकारों की चुनौतियाँ, बढ़ता हुआ दरिद्रीकरण, भागलपुर-कांड, असुरक्षा आदि दर्दनाक एवं शर्मनाक घटनाएँ घटतीं और नागरिक चुप बैठे रहते, मानो विशेष कुछ अभद्र हुआ ही नहीं? अमेरिका में वॉटरगेट काण्ड के फलस्वरूप अमेरिकी राष्ट्रपति को त्यागपत्र देना पड़ा था और भारत में क्या हुआ?

स्वराज्य मिलने के बाद लोग अपने लाडले नेताओं को सत्ता सौंपकर सो गये। इसलिए ३५ साल व्यर्थ-से गये। दूसरे राष्ट्र गत ३५ वर्षों में कहाँ से कहाँ पहुँच गये हैं। और हम! हमारे लोकतंत्र को कुंभकर्ण की उपमा दी जा सकती है। ऐसा कहते हैं कि कुंभकर्ण छः महीने सोता था और एक दिन जागता था। लेकिन हमारा लोकतंत्र पाँच साल में एक दिन यानी चुनाव के दिन थोड़ा-बहुत जागता है, ऐसा कहा जा सकता है और फिर ४ साल ११ महीना २९ दिन सो जाता है। ऐसी परिस्थिति में जनता की समस्याएँ पैदा हुईं और वे हल नहीं हुईं तो आश्चर्य की बात ही क्या?

लोगों का जागरण—इसके लिए लोगों को जागना होगा और अपनी समस्याएँ समझकर उनको दूर करने के उचित उपाय करने होंगे। जो

जागे हैं, उन्हें अन्य लोगों को चैतन्य करना होगा। इन वर्षों में लोगों में कुछ चेतना जाग रही है। अब उन्हें पहले जैसा मानकर चला नहीं जा सकता। सन् १९७७ एवं सन् '८० में उन्होंने मत देकर विश्व को चौंका दिया। लेकिन गलत राज्यकर्ताओं को हटाने तक ही यह जागृति सीमित है। चुने हुए राज्यकर्ताओं को उनके चुनाव-आश्वासनों को क्रियात्मक रूप देने के लिए बाध्य करने जैसी जागृति अभी मतदाताओं में आना बाकी है। इसके लिए लोगों को अपने-अपने स्थान पर लोकतन्त्र के मूल्य प्रस्थापित करने होंगे; इधर अपने-अपने गाँव-शहर में और उधर राष्ट्रीय जीवन में वे प्रतिबिंबित करने होंगे। लोकमत की निर्मिति ही लोगों की राजनीति की मुख्य धारा बननी चाहिए। लोकमत को जगाने के लिए एवं जगे हुए लोकमत द्वारा ये काम करने होंगे :

(क) **चुनाव-सुधार**—आज चुनाव अत्यन्त खर्चीले हो गये हैं। सचमुच न तो कोई चुना जाता है और न ही कोई किसीका सही मानी में प्रतिनिधित्व करता है। नाम दाखिल करने के मंच पर तथाकथित प्रतिनिधि सौदा करते हैं एवं मतदान-केन्द्रों पर मतदाता सौदा करते हैं। वास्तव में चुनाव आज कानून-सम्मत नीलामी के अवसर बन बैठे हैं। पैसे की एवं गुण्डों की शक्ति, जातीयता, नारेबाजी, पैसे बाँटना, मत-पेटियों में हेराफेरी, अदल-बदल, मतकेन्द्रों को हथियाकर भिन्न मतवालों को मत नहीं डालने देना आदि गैरकानूनी कृत्य खूब चलते हैं। विचार बदल जाने से दल-बदल नहीं होता, सत्ता में भागीदारी प्राप्त करने के लालच से दलबदल बहुधा 'आयाराम' 'गयाराम' होता है। आयाराम-गयाराम का यह नाटक पिछले दस वर्षों में खूब खेला गया है। सभी दल सत्ता में आये हैं, लेकिन किसी दल ने इसके विरुद्ध कानून पास करने में दिलचस्पी नहीं दिखायी है। खुद चुनाव-आयुक्त ने एवं जनतन्त्र समाज ने इस काम के लिए नियुक्त की गयी तारकुंडे-समिति ने चुनाव-सुधार के लिए जो अनेक उपयुक्त सुझाव किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

१. कम्पनियाँ राजनीतिक दलों को चुनाव के लिए जो पैसा दें वह चुनाव-खर्च में शामिल किया जाय।

२. राजनीतिक दल रजिस्टर्ड हों और उनका आय-व्यय का ऑडिट हो, ऐसे दलों के उम्मीदवारों का कुछ मान्य चुनाव-खर्च सरकार दे,

३. मतदाता को पहचान-पत्र फोटो के साथ दिया जाय और उसे वह चुनाव के दिन अपने पास रखे।

४. चुनाव के दिन ही मतदान-केन्द्रों पर इलेक्ट्रॉनिक-विद्युत्-मशीन से वोटों की गिनती कर ली जाय, जिससे कि मतपेटियों को केन्द्र में ले जाने से गड़बड़ी होने का डर न रहे।

५. एक चुनाव-आयुक्त के स्थान पर अधिक आयुक्त हों और चुनाव-आयुक्त के एकाधिकार बढ़ा दिये जायँ। पंचायत तथा नगर-परिषद् के चुनाव कराना भी इनकी जिम्मेवारी हो।

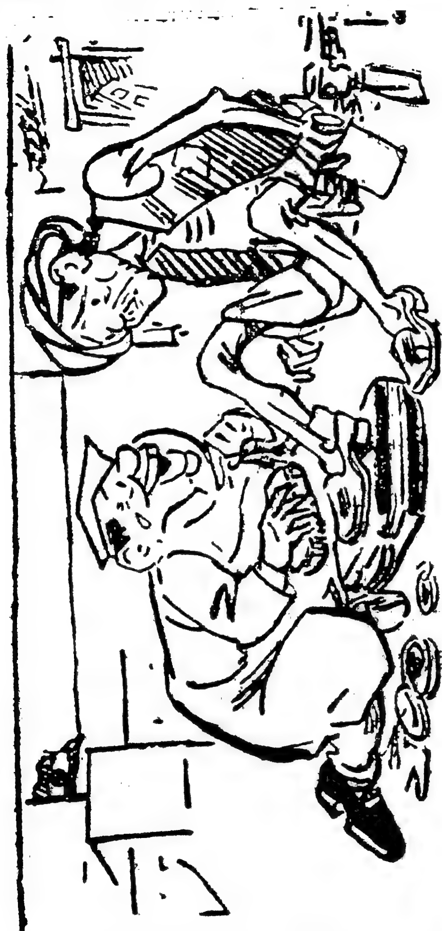
६. चुनाव के ३ माह पहले सत्ताधारी दल राज्यों में त्यागपत्र देंवे और राष्ट्रपति-शासन हो। केन्द्र में, चूँकि राष्ट्रपति-शासन का प्रावधान संविधान में नहीं है, अतः मन्त्रिमण्डल कामचलाऊ सरकार के रूप में कार्य करे, पर कोई नयी नीति या प्रकल्प वह शुरू न करे।

७. चुनाव में 'लिस्ट-पद्धति' का आंशिक उपयोग करें, जिससे आधे सांसद चुनाव से आयें और आधे दल की बुनियाद पर आयें और आधे मत इसलिए दलों को दिये जायँ, जैसा कि पश्चिम जर्मनी में होता है, इससे सानुपातिक प्रतिनिधित्व चुनाव में दाखिल होगा। आज सत्ताधारी दल को कुल मतों के केवल ३०-३५ प्रतिशत मत पड़ने पर भी, उसका बहुमत हो जाता है। चुनाव-पद्धति का यह दोष इससे कम होगा।

८. मतदाता की सूची ५ वर्ष में एक बार के बजाय प्रतिवर्ष बनायी जाय।

ऊपर के सुझावों पर देशभर में व्यापक बहस द्वारा खूब विचार-मंथन होना चाहिए और तदनंतर चुनाव-सुधार अविलम्ब होने चाहिए।

अन्यथा इतने दोषों के रहते चुनावों से कोई विशेष अर्थ सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वे प्रजा के मत को ठीक से प्रतिबिंबित नहीं कर सकेंगे।



चुनाव के पहले

(ख) राजनीतिक दल—राजनीतिक दल आज वोट बटोरने का यंत्रमात्र रह गये हैं ! इन्हें दल के उद्देश्य से, कार्यक्रमों से या रीति-

नीति से कोई मतलब नहीं रह गया है। यह लोकतंत्र का मखौल है। लोक-शिक्षण के लिए दलों का गठन होता है। यह काम अब समाप्तप्राय है। इसलिए दलों की विश्वसनीयता भी समाप्तप्राय है। लेकिन निकट भविष्य में विभिन्न मतप्रणालियों के दल रहेंगे ही। अतः वे उचित तरीके से काम करें, गलत काम न करें, इसके लिए सब दल मिलकर आचार-संहिता बनायें। राष्ट्रीय प्रश्नों पर जैसे शिक्षा-नीति, विदेश-नीति, सुरक्षा, जनसंख्या-नीति, अन्न-नीति, पूर्ण-रोजगार आदि पर सब दल मिलकर अपनी सहमति बनायें।

(ग) **लोक-उम्मीदवार**—आज के विधानसभा तथा लोकसभा के उम्मीदवारों का चयन राजनीतिक दल दिल्ली या प्रदेशों की राजधानियों मे बैठकर करते हैं। उन्हें जिताकर लाने के लिए प्रचार इत्यादि का काम उनके दल करते हैं। उम्मीदवार तब मतदाताओं से अनुनय-विनय करता है और जीतकर आने पर लोक-प्रतिनिधि अपने दल के आदेशों को मानता है, मतदाताओं के आदेशों को नहीं।

अमरनाथ चावला के प्रसिद्ध मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने कहा है कि यह लोकतंत्र कैसा है जिसमें चुनाव के लिए उम्मीदवार को खड़ा करने में, उसे जिताकर लाने में और जीतने पर विधान-सभा तथा लोक-सभा के कामकाज में लोगों का कोई संबंध न हो। फिर आज ९० प्रतिशत लोग दलों के बाहर हैं। दलों के बाहर के ये ९० प्रतिशत लोग मत डालने के अलावा लोकतंत्र से छूट जाते हैं।

लोकतंत्र की प्रक्रिया में और चुनावों में सामान्य मतदाता का सहभाग बढ़े, इसलिए लोक-उम्मीदवार की योजना सामने आयी है। इसके अनुसार विधानसभा-क्षेत्र के हर गाँव को ग्रामसभा की बैठक में चुनाव के उम्मीदवार को मनोनीत करने के लिए एक से तीन प्रतिनिधियों को गाँव की जनसंख्या को ध्यान में रखकर मनोनीत किया जाय। ये हुए मतदाता-प्रतिनिधि। ऐसे २००-३०० प्रतिनिधि बैठकर,

कुछ मूल्यों के और कसौटियों के आधार पर, आवश्यकता हो तो मतगणना कराकर या पर्ची डालकर, एक व्यक्ति का चयन करके विधान-



चुनाव के बाद

सभा के लिए लोगों की ओर से अपना उम्मीदवार खड़ा करें। यह लोक-

उम्मीदवार हुआ। उसके बाद वे अपने-अपने गाँव में जाकर, सभा करके उसे जिताकर लायें। ऐसा करने पर खर्च कम आयेगा, गलत तरीकों का चुनाव में उपयोग करने की जरूरत नहीं रहेगी और चुनाव में लोगों का सहभाग भी हो जायगा। जीतकर आने पर यह व्यक्ति सही अर्थों में लोक-प्रतिनिधि हुआ। विधान-सभा में जाकर उसने क्या काम किया है, इसका ब्योरा वह गाँव-गाँव के प्रतिनिधियों की सभा बुलाकर उनके आगे पेश करेगा। ये प्रतिनिधि अपने-अपने गाँव में जाकर विधायक के काम का ब्योरा बतायेंगे और ग्रामवासियों से पूछेंगे कि आगे उनके विधायक को क्या काम करना है। इस प्रकार नीचे और ऊपर संवाद होता रहेगा और निद्रित लोकतंत्र जागृत होगा। जो बातें विधानसभा के बाबत कही गयी हैं, वे ही लोकसभा एवं अन्य संस्थाओं के चुनावों को भी लागू होंगी।

सांसदों और विधायकों की लीलाएँ—आज के ये सांसद एवं विधान-मंडलों के सदस्य क्या करते हैं? संसद् पर प्रतिदिन करीब ४ लाख रुपया खर्च होता है और ज्यादातर प्रतिनिधि उपस्थित ही नहीं रहते हैं। उपस्थित रहकर वे आखिर करें भी क्या? मतगणना के समय पार्टी के सचेतक के निर्देशानुसार हाथ उठाने के सिवा उन्हें कोई काम नहीं रहता। संवाद द्वारा शासन चलाना लोकतंत्र की परिभाषा बतायी गयी है। लेकिन संसद् में या विधान मंडल में संवाद होकर मत-परिवर्तन को या किसी प्रश्न पर मत बनाने की गुंजाइश ही नहीं है, क्योंकि पार्टी-प्रमुख सब तय करते हैं। संसद् में प्रवेश करने के पहले ही बना-बनाया मत तैयार रहता है। इन सभाओं में कुछ प्रतिनिधि अभद्र एवं अशोभनीय गाली-गलौज करते हैं, व्यक्तिगत चरित्र-हनन करते हैं, कुर्सी-मेज-स्टूल आदि फर्नीचर उठाकर फेंकते हैं, कभी-कभी हाथापाई भी करते हैं, और क्या-क्या नहीं करते? इतनी खराब दशा तो ग्रामपंचायतों की भी नहीं है!

गांधी ने सत्य-अहिंसा के तत्त्व राष्ट्र के सामने रखे थे। इन प्रतिनिधियों को न सत्य से मतलब है, न अहिंसा से। अनेक सदस्य खुद के उपयोग के लिए दिये हुए सरकारी मकान का एक हिस्सा दूसरों को देकर धन कमाते हैं। भ्रष्टाचार की गंगोत्री चुनाव से शुरू होती है। चुनाव में लाख-दो लाख खर्च किये बिना कोई बिरला ही चुनकर जा सकता है। बहुत से प्रतिनिधि इस खर्च को ५ साल में वसूल करते हैं और अगले चुनाव के खर्च के लिए भी रकम जुटाते हैं। चुनाव के झूठे हिसाब पेश किये जाते हैं। यह सारा भ्रष्टाचार मिटे बिना देश का भ्रष्टाचार कैसे मिटेगा ? इन्होंने इन ३५ सालों में अपना वेतन, भत्ता एवं अन्य सुविधाएँ मिलाकर ४ से ५ हजार रुपया मासिक आय की योजना अपने लिए कर रखी है।[५३] सभी दलों ने इस बहती गंगा में हाथ धो लिये हैं। इस प्रकार कानून बनाने की अपनी सत्ता का दुरुपयोग कर, समाजवाद की बात करते-करते, इन लोक-प्रतिनिधियों ने अपना एक 'सुविधायुक्त नया वर्ग' निर्माण कर लिया है, जब कि इनके मालिकों की यानी मतदाताओं की औसत मासिक आमदनी १०० रुपया से भी नीचे है। अपने प्रतिनिधियों के इन कारनामों को मतदाता जरा आँख खोलकर तो देखें !

(घ) **सत्ता का विकेंद्रीकरण**—भारत सरीखे विशाल एवं इतनी विविधतायुक्त राष्ट्र में इतनी दूरी के केवल एक केन्द्र से या राज्यों की २९ राजधानियों से शासन करना संभव नहीं है। अतएव सत्ता का विकेन्द्रीकरण अनिवार्य है। यह बात ध्यान में रखकर संविधान के अनुच्छेद ४० में कहा गया है—"राज्य ग्रामपंचायतों को ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने के योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।" आज पंचायती राज्य के नाम से जिला परिषद् एवं पंचायत समितियों को अधिकार दिये गये हैं, जिससे कि वे विकास के काम ठीक से कर सकें।

स्वायत्त शासन के रूप में वे विकसित हों, ऐसा संविधान का नीति-निर्देशक तत्त्व भुला दिया गया है। उसे यदि अमल में लाना हो तो संविधान में परिवर्तन कर, 'ग्रामों को एवं नगरों को अधिकार' नाम की चौथी सूची संविधान में बनानी होगी। गाँव की चर्चा करते समय उन्हें कौन से अधिकार दिये जायँ, यह हमने इसके पहले देखा है। इसी प्रकार नगरों को भी उचित अधिकार देने होंगे। जिन विषयों की सत्ता गाँवों को सौंपी है, वहाँ से राज्य-सरकार अपनी सत्ता को हटा ले, यह स्वायत्त शासन की परिभाषा बलवंतराय मेहता समिति ने की है। ये उत्तर-दायित्व एवं अधिकार गाँव को यानी ग्रामसभा (गाँव में रहनेवाले सारे बालिग स्त्री-पुरुषों की सभा याने ग्रामसभा) को देने हैं, ग्राम-पंचायत को नहीं। यानी यहाँ प्रत्यक्ष लोकशाही का प्रयोग होगा। आज पंचायतों को जो अधिकार हैं, वे नाममात्र के हैं, और वे विधानमंडल के यानी प्रत्यक्ष में राज्य के मंत्रिमंडल की मर्जी पर अवलंबित हैं। इसलिए पंचायतें एवं नगर-परिषदें और नगर-निगम राज्य के यानी सत्ताधारी पार्टी के हित में चाहे जब हटा दी जाती हैं। 'इंडियन-एक्सप्रेस' ने इसका अध्ययन करके लिखा है कि आज ८५ प्रतिशत नगरों में नगर-परिषदों के चुनाव ६ से १६ साल से हुए ही नहीं हैं। १५ राज्यों की २,००० नगर-परिषदों में से १५०० में एवं ५० नगर-निगमों में से ३५ में १०-१५ वर्षों से चुनाव ही नहीं हुए।[५४] यही हाल अनेक राज्यों में जिला-परिषदों एवं ग्राम-पंचायतों के चुनावों का है।

(च) **मूल-अधिकार एवं स्वतंत्र न्यायपालिका**—हमारे संविधान में ७ स्वतंत्रताएँ गिनायी गयी हैं। भाषण-लेखन की स्वतंत्रता, कानून के समक्ष समता, संगठन और सभा सम्मेलन के अधिकार, अबाध संचार का एवं निवास का अधिकार—ये सब मूल-अधिकारों की गिनती में आते हैं। धीरे-धीरे प्रेस के अधिकार पर पाबन्दियाँ लगायी जा रही हैं, सभा के अधिकार पर रोक लग रही है एवं राष्ट्रीय सुरक्षा-कानून के अन्तर्गत किसीको भी नजरबंद किया जा सकता है। एकाध को उच्च-न्यायालय ने

मुक्त किया भी तो फिर से पुलिस उसे उसी दिन गिरफ्तार कर सकती है। उच्च-न्यायालय के अतिरिक्त न्यायाधीशों की सेवा जारी रखने के अधिकार पर सरकार द्वारा आँच आ रही है। इस प्रकार न्यायपालिका का महत्त्व घटाने की कोशिश की जा रही है। स्वतंत्र एवं निर्भय न्यायपालिका और स्वतंत्र प्रेस, ये दो लोकतंत्र के महान् स्तंभ हैं। इन पर आँच आने से लोकतंत्र समाप्त हो जायगा। नागरिक-स्वातंत्र्य लोकतंत्र का हृदय है। राष्ट्रीय सुरक्षा-कानून का उपयोग कर शासन ने एक साल पहले ९८७ लोगों को गिरफ्तार किया था, जिनमें से ६१५ लोगों को रिव्यू बोर्ड ने और न्यायालयों ने मुक्त कर दिया।[५५] ये आँकड़े सिद्ध करते हैं कि शासन इस कानून का कैसा दुरुपयोग कर रहा है। अतएव ये कानून रद्द कर दिये जाने चाहिए। शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए अन्य कानून पर्याप्त हैं। इस कानून का उपयोग कर भिन्न मत रखनेवालों को राजनैतिक कारणों से नजरबंद नहीं किया जायगा, यह आश्वासन लोकसभा में दिये जाने पर भी, इससे उलटा ही हुआ है। अप्रैल, १९७५ में श्री मोरारजी देसाई को प्रधानमंत्री ने ऐसा आश्वासन देकर उनका उपवास छुड़वाया था। तीन माह बाद मीसा-कानून का उपयोग कर सर्वप्रथम उन्हें ही नजरबंद कर लिया गया! इतिहास फिर से दुहराया जाने की आशंका कइयों को हो रही है। गुजरात उच्च न्यायालय ने कुछ समय पहले ऐसा निर्णय किया है कि किसी सरकारी नीति के या परिस्थिति के विरुद्ध—जैसे महँगाई के विरुद्ध—शांतिमय आंदोलन करना एवं मोर्चा निकालना नागरिक का मूल अधिकार है और इस कारण से किसी नागरिक को नजरबंद नहीं किया जा सकता। ऐसा निर्णय देते हुए इस न्यायालय ने नजरबंद किये हुए राजनैतिक कार्यकर्ताओं को मुक्त कर दिया है। जयप्रकाशजी ने लोकतंत्र की दृष्टि से प्रेस एवं न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर सर्वोपरि जोर दिया था।

(छ) **पुलिस**—सरकार सन् १९४७ की तुलना में आज पुलिस पर कई गुना खर्च कर रही है और उनकी संख्या भी कई गुना बढ़ गयी है।

आये दिन अखबारों में पुलिस के अत्याचारों के बारे में खबरें प्रकाशित होती रहती हैं। नक्सलवादियों के या डाकुओं से मुठभेड़ के नाम पर ११७३ निरपराध नागरिकों को समाप्त कर दिया गया है। ऐसा मार्च-अप्रैल १९८२ के 'पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबरटीज' के अंक में प्रकाशित किया गया है। संथाल-परगना के ४ भेड़-पालकों को ८ साल तक जेल में विचाराधीन कैदी के रूप में बंद कर रखने की घटना अभी-अभी प्रकाश में आयी है। सन् १९७२ में हत्या के अभियोग में उन्हें गिरफ्तार किया था, जब उनकी उम्र केवल १० साल की थी। सन् १९८१ में भी इस मामले का निर्णय नहीं हुआ। विगत वर्ष श्रीमती कपिला खंडावाला ने सर्वोच्च न्यायालय में 'रिट' अर्जी देकर बिहार के जेलों में विचाराधीन कैदी के रूप में बन्द कुछ लोगों को मुक्त करवाया, तब पता चला कि देशभर में लाखों विचाराधीन कैदी बन्द हैं। लाखों मुकदमों की बरसों से सुनवाई ही नहीं हुई है। न्यायालयों को देखना चाहिए कि जनता को न्याय शीघ्र मिले। 'देर से न्याय यानी अन्याय' ऐसी अंग्रेजी में कहावत है। शासन को अतिरिक्त न्यायाधीशों की फौरन नियुक्ति करनी चाहिए, जिससे कि पड़े हुए मुकदमे निबटाये जा सकें। पुलिस को मुकदमों के लिए प्रमाण, गवाहियाँ आदि जल्द प्राप्त करनी चाहिए। इन ३४ वर्षों में पुलिस एवं जेल-विभाग की हालत सुधरने के बजाय बिगड़ती ही गयी है।

(ज) **नैतिकता**—जब राज्यकर्ताओं का नैतिक अधिकार क्षीण होता है, तब राज्य प्रत्यक्ष में नौकरशाही के हाथों में चला जाता है और उन पर कोई अंकुश नहीं रहता। राज्य केवल कानूनी अधिकार से नहीं, नैतिक शक्ति की बुनियाद पर चलते हैं। जो नैतिक अधिकार आज क्षीण हो गया है, वह फिर से कैसे प्राप्त हो, यह सोचा जाना चाहिए। अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों पर भार आने से नैतिक अधिकार बलवान् होगा। नेताओं को एवं शासन को इसके बारे में गंभीरता से सोचकर इस मामले में पहल करनी चाहिए।

(झ) **शांति एवं सुरक्षा**—बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा करना एवं अंदरूनी शांति कायम रखना किसी भी सरकार का पहला काम है। आज सुरक्षा का प्रश्न दुनियाभर में पेचीदा एवं खर्चीला बनता जा रहा है। अफगानिस्तान पर रूस ने हमला किया। पाकिस्तान अणुबम बना रहा है। चीन के पास अणुबम है ही। सन् १९६४ में हमारा सुरक्षा-खर्च ८०० करोड़ रुपया था, वह अब ४,००० करोड़ से ऊपर हो गया है। यह कुल सरकारी बजट का चौथाई है। अब यह सोचने का समय आया है कि भारत सरीखा गरीब देश इतना भारी-भरकम खर्च सुरक्षा पर करे या सुरक्षा का कोई दूसरा उपाय सोचकर गरीबों की गरीबी मिटाने पर या राष्ट्र को अन्य तरीकों से बलवान् बनाने पर इतनी रकम खर्च करे !

(ट) **कर-नीति एवं कार्यक्षमता**—सरकारी करों में अप्रत्यक्ष करों का भार बढ़ रहा है। सन् १९४७ की तुलना में वे १८ गुना हुए हैं। गरीब एवं मध्यम-वर्ग पर करों की अब हद हो गयी। खर्च में बहुत-सा पैसा यानी आधे से ज्यादा वेतन एवं महँगाई भत्ते में ही खर्च हो जाता है। एक काम करने के लिए कई नौकर रखे जाते हैं। पार्किन्सन का नियम लागू हो रहा है। कार्यक्षमता प्रतिदिन घट रही है। लालफीताशाही से सरकारी निर्णय में भयंकर देर होती है। फाइलें इधर-उधर घूमती रहती हैं। बिना व्यक्तिगत पहचान के या प्रभावशाली व्यक्ति की सिफारिश के एवं कई बार बिना रिश्वत के कोई काम नहीं होता। अतः केन्द्रीय सरकार का बोझ कम कर सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर फौरन बढ़ने की आवश्यकता है।

१५. दुनिया में क्या चल रहा है ?

विश्व-युद्ध का भय—आज सारा संसार भयभीत है। विश्व-युद्ध के बादल घने होते जा रहे हैं। अमेरिका ने न्यूट्रॉन बम बनाना शुरू किया है। इसके प्रयोग से आदमी मर जायगा; संपत्ति कायम रहेगी। आज विश्व-उत्पादन का छः प्रतिशत दुनिया का सैनिक बजट है, जो दूसरे विश्व-युद्ध के समय तीन प्रतिशत था। दूसरे महायुद्ध के बाद से तीसरी दुनिया में हुई लड़ाइयों में ढाई करोड़ इन्सान मारे गये थे। इस सदी के आठवें दशक को संयुक्त राष्ट्र ने निःशस्त्रीकरण दशक घोषित किया था,[५६] जिसका यह हाल है। पड़ोसी अणुबम बना रहा है, इसलिए भारत वही रास्ता अपनाये तो उसकी नैतिक प्रतिमा का और बम न बनाने की पुरानी घोषणाओं का क्या होगा ? भारत यदि अणुबम न बनाये तो पड़ोसी यदि लड़ाई छेड़कर अणुबम का उपयोग करे तो भारत उसमें कैसे टिकेगा ? भारत आज ऐसी दुविधा में पड़ा है। तीसरी दुनिया के गरीब देशों का अरबों रुपयों का खर्च शिक्षा या विकास पर न होकर हथियारों पर हो रहा है, यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। शांतिप्रिय भारत में भी प्रबल जनमत अणुबम के पक्ष में तैयार हो रहा है, जो चिन्ता का विषय है।

भारतीयों का निष्कासन—दक्षिण अफ्रीका वर्ण-भेद की नीति पर अड़ा है। इसी वर्ण-भेद को लेकर एशिया के लोगों को ब्रिटेन से जबर-दस्ती से निकाला जा रहा है। एक जमाने में ब्रिटेन उदारता और समा-नता का प्रतीक था। आज वहाँ भी यही हो रहा है। भारतीय एवं अन्य एशियाई लोग बड़ी संख्या में अफ्रीका से ब्रिटेन खदेड़े गये, क्योंकि उनके पास ब्रिटिश नागरिकत्व था। अब जातीय हिंसा ब्रिटेन में भी भड़क उठी है। दुनिया में असहिष्णुता और वर्ण-विद्वेष घना होता जा रहा है।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा शोषण—आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विश्व के बाजार में, खासकर अविकसित राष्ट्रों में, बड़ी मात्रा में घुस गयी हैं। अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने सन् १९५० से '६५ के बीच इन देशों में २७४ प्रतिशत मुनाफा कमाया था। उस-उस देश के कानूनों से बचते हुए इस मुनाफे को वे चालाकीभरे कई रूपों में अपने देशों में भेजती हैं। तकनीकी जानकारी और शुल्कों के रूप में ही सन् १९७५ में विकासशील देशों से उन्होंने एक अरब डालर अपने देश को भेजे। अधिकांश दवाइयाँ, वैज्ञानिक औजार और उपकरण तथा विद्युत्-क्षेत्र में नवीनतम जानकारी केवल इन बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से ही उपलब्ध हो सकती है। अतः औद्योगिक विकास के लिए इन बहुराष्ट्रीय निगमों की शरण में जाना विकासशील देशों के लिए अनिवार्य-सा बन चुका है।[७७] विश्वभर में पहले ऐसी कुल कम्पनियों की संख्या ५०० थी, सन् १९७७ में वह ११,००० हो गयी है। कई मामलों में ये निगम राष्ट्रीय आर्थिक स्रोतों के मौके के स्थानों पर हावी हो गये हैं और फिर उस देश के राष्ट्रीय अर्थनीति को तोड़ते-मरोड़ते रहते हैं। जैसे, लोह के उत्पादन में ७ बहुराष्ट्रीय निगमों का हिस्सा ५० प्रतिशत था। इनके खतरनाक खेल को समझते हुए भी विकसनशील देश उन्हें अपने यहाँ आने का आमन्त्रण देते हैं। भारत ने सन् १९८०-८१ के बजट में इन बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए अपने द्वार और अधिक खुले कर दिये हैं।

विश्व में साधनों का विषम बँटवारा—विश्व में नैसर्गिक साधन-स्रोतों का विषम बँटवारा हुआ है। जुलियस नेरेरे ने अपने एक भाषण में कहा था कि दुनिया के गरीब राष्ट्रों में विश्व की ७० प्रतिशत जन-संख्या और १७ प्रतिशत आय है। यह विषमता घटने के बजाय उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। गरीब राष्ट्रों की आय जहाँ सन् १९६५–७५ के बीच प्रतिवर्ष १६ रु० बढ़ी, वहाँ अमीर राष्ट्रों की आय १०४० रुपये के हिसाब से बढ़ी। विश्व-बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष इत्यादि विश्व-

संस्थाओं की रचना ऐसी है कि उनका लाभ अमीर राष्ट्रों को ही मिला है और इस रचना का विश्व की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अरब राष्ट्रों का रवैया—अरब राष्ट्रों में तेल की प्रचुर मात्रा होने के कारण ये राष्ट्र खूब धन कमा रहे हैं। तेल के स्रोत से एक नया शोषण शुरू हुआ है। इस आय का एक हिस्सा भारत जैसे देशों में इस्लाम-धर्म को बढ़ाने में ये राष्ट्र खर्च कर रहे हैं, ऐसी भारत को आशंका है। इसके लिए यह जरूरी है कि कोई लालच से धर्म-परिवर्तन न करे और विदेशी पैसों पर आँख रखी जाय।

प्रदूषण की समस्या—आधुनिक औद्योगीकरण से विश्व में हवा-पानी दूषित हो रहे हैं, और इससे पर्यावरण का असंतुलन बढ़ रहा है। आखिर भौतिक सम्पत्ति की यह हविस मानव को कहाँ ले जायगी! आवश्यकताएँ और उपभोग बढ़ाते जाओ, बढ़ाते जाओ, बढ़ाते जाओ —कहाँ तक—क्यों ?—ये प्रश्न दुनियाभर के चिंतनशील लोग पूछने लगे हैं। विकास की दर अमीर राष्ट्र शून्य करें; अन्यथा दुनिया के संसाधन ५०-१०० साल में ही समाप्त हो जायेंगे, ऐसी गम्भीर चेतावनी करीब १० साल पूर्व सुप्रसिद्ध 'क्लब ऑफ रोम' ने दी थी, लेकिन दुनिया उस ओर आज पूरा ध्यान नहीं दे रही है। दुर्भाग्य से भारत ने भी औद्योगीकरण का यही गलत रास्ता स्वीकार किया है। हथियारों की वृद्धि, टाटा-बिरला की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और प्रदूषण का संकट यहाँ भी बढ़ रहा है। सबसे पवित्र नदी गंगा भी कारखानों के कारण जल-प्रदूषण से बची नहीं है। देखें, भारत और मानव-जाति कितनी बार ठोकरें खाने पर सबक सीखेगी और दुनिया कब एक होगी ? ●

१६. ऐसा क्यों हुआ ?

भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय देश में उत्साह उमड़ रहा था। भारत को सारी दुनिया की सहानुभूति प्राप्त हुई थी। वह दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र था। दुनिया में उसकी सबसे पुरातन सभ्यता थी, जिसने कई उतार-चढ़ाव देखे थे। फिर भी भारत आज इस चहुँमुखी ह्रास की हालत में क्यों है ? इतनी गरीबी कि दुनिया के केवल आठ छोटे-छोटे भूटान जैसे राष्ट्र उससे ज्यादा गरीब हों और इतनी गुलामी कि गुलाम अपनी जंजीरों से ही प्यार करने लगें !

आज का संकट सभ्यता का संकट है। ऐसा इसलिए हुआ कि भारत ने अपनी विशिष्टता छोड़ दी। भारत अपनी सभ्यता का उद्देश्य भूल गया। आज का संकट केवल राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक या शैक्षणिक नहीं है। वह वास्तव में सभ्यता का संकट है। गांधी ने अपनी युवावस्था में ही भारत पर के इस संकट को पहचाना था। आज भी वही सभ्यता का, आत्मविश्वास खोने का संकट है। गांधी भारत में आये, तब यहाँ के बहुतेरे नेता पश्चिम की चकाचौंध से मोहित थे और अपने को, अपनी सभ्यता को घटिया मान बैठे थे। सामान्य प्रजा निराश थी। आज फिर वैसा ही संकट उपस्थित है। आज अभिजात-वर्ग पश्चिम की तथाकथित प्रगति से और सांस्कृतिक महत्ता से मोहित है, जनता हताश है। ब्रिटेन ने जाते-जाते अनेक भारतीयों के रूप में ऐसे सांस्कृतिक ट्रान्समीटर छोड़ दिये हैं, जिन्होंने विज्ञान एवं बुद्धिवाद के नाम से भारत की सभ्यता का बुनियादी ढाँचा ही तोड़ डाला है। ये दोगली संस्कृति के निर्माण का प्रयत्न कर रहे हैं। गांधी अपनी युवावस्था से ही अपनी पुरानी सभ्यता के गुणों के स्वीकार पर एवं दोषों के त्याग पर आधृत एक नयी मनोवृत्ति पैदा करने में लग गये थे। वे पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के विरुद्ध प्राणपण से लड़े थे। यह निरी राष्ट्रीयता नहीं थी। भारत इस अर्थ में भौगोलिक

दृष्टि से कभी राष्ट्र नहीं रहा। भारत एक सभ्यता का नाम है। वह सभ्यता, जिसकी जड़ें अतीत में हैं, जो पुरातन मूल्यों से प्रेरणा लेती है और नये परिवेश धारण कर जमाने की चुनौतियों का स्वीकार करती है।

भारतीय सभ्यता की धारणा—इस सभ्यता की धारणा यह है कि जीवन अखंड एवं समग्र है। आध्यात्मिकता इसकी बुनियाद है। प्राणीमात्र के लिए आदर इसकी प्रमुखता है। यह सत्य, प्रेम, करुणा, आपस में सुख-दुःखों का बँटवारा एवं संयम पर जोर देती है। श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने इसे 'संत-संस्कृति' कहा है। दूसरी है 'भद्र-संस्कृति'। भद्र-संस्कृति आवश्यकताओं के असीम बढाने पर एवं उनकी पूर्ति पर यानी भोगवाद पर जोर देती है। गांधी संत-संस्कृति के प्रतीक थे। सत्य एवं अहिंसा, ये दो अमोघ अस्त्र लेकर वे इस पाश्चिमात्य संस्कृति से जिन्दगीभर लड़ते रहे। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को अमरता की ओर, विनाश से विकास की ओर, और अंधश्रद्धा से प्रकाश की ओर ले जानेवाले ये जीवन-मूल्य आज खंडित हो रहे हैं। यह देश का सबसे बड़ा संकट है। आजादी की लड़ाई के दौरान गांधीजी ने हमारा ध्यान इन जीवन-मूल्यों की ओर, भारतीय परम्परा की विशेषताओं को ओर, आकर्षित किया था। पर दुर्भाग्य से इस रास्ते को छोड़कर देश के नेताओं ने भौतिक विकास को यानी नहर, बिजली, अस्पताल इत्यादि को भारत के नये उपास्यदेव माना। नेहरूजी ने तो भाखरा बाँध को 'नये युग के मंदिर' की संज्ञा दी थी। सड़क, नहर आदि का उपयोग करनेवाले मनुष्य के भीतर के स्वार्थ को, भोग की इच्छा को, नियंत्रित रखने के लिए गांधीजी की तरह स्वयं नेताओं को अपने जीवन से त्याग, संयम आदि का उदाहरण पेश कर समाज को सही नेतृत्व देना चाहिए था। वह नहीं हुआ। इसका परिणाम हमारे सामने है। आजादी के बाद देश में गरीबी, महँगाई इत्यादि जो बढ़ी है, वह स्वार्थ एवं भोग-वृत्ति के बढ़ने के कारण भी है, न कि केवल चीजों की कमी, जनसंख्या की बढ़ोतरी या साधनों की कमी के कारण, जैसा कि नेतागण कहते रहते हैं।

गांधीजी ने इस देश की आत्मा को पहचाना था। वे चाहते थे कि इस देश का विकास भारतीय संस्कृति के चिरंतन मूल्यों के आधार पर हो, न कि पश्चिमी देशों की अंधी नकल। उन्होंने कहा था—"मैं नम्रता-पूर्वक यह मानता हूँ कि पश्चिम के पास बहुत कुछ ऐसा है, जिसे हम ले सकते हैं, पचा सकते हैं, और जिससे हम लाभान्वित हो सकते हैं। ज्ञान किसी एक देश या जाति के एकाधिकार की वस्तु नहीं है। ...... (पर) मेरा दृढ़ विश्वास है कि भारत ने कष्ट और तपस्या की आग में से गुजरने के लिए जितना धीरज दिखाया और अपनी सभ्यता पर—जो अपूर्ण होते हुए भी अभी तक काल के प्रवाह को झेल सकी है—किसी भी दिशा से कोई अनुचित आक्रमण न होने दिया तो वह दुनिया की शांति और ठोस प्रगति में स्थायी योगदान कर सकती है।"[५८] लेकिन बाहरी सभ्यता के आक्रमण से बचाने की बात तो दूर, हमने तो उसे समझ-बूझ-कर निमंत्रण दिया।

गांधीजी ने राज्य-सत्ता और अर्थ-सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जिन्दगी-भर जोर दिया, क्योंकि व्यक्ति की प्रतिभा छोटे-छोटे, सरल सहज संगठनों में ही प्रकट हो सकती है। बड़े संगठनों में आदमी खो जाता है। आज राज्य एवं बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ आधुनिक मनुष्य को घेरे हुए हैं। बड़े संगठनो में आधुनिक मनुष्य की तथाकथित स्वतंत्रता अर्थात् गैर-जिम्मेदारी तथा सामाजिक व नैतिक कर्तव्यों को निभाने से अर्थात् जिम्मेदारी से बचने की स्वतंत्रता है। सिर्फ छोटे समूह में ही मनुष्य अपने नैतिक निर्णयों को, अपनी प्रतिभा को और अपनी मनुष्यता को अच्छी तरह प्रकट कर सकता है। इसीलिए आज पश्चिम में आधुनिक समाज का विघटन हो रहा है। प्रारंभ में बड़े राजनीतिक दलों के संगठन पूँजीपतियों के हथकंडों से बचने के लिए ही थे। लेकिन परिणाम उलटा निकला। आज का प्रजातंत्र 'भीड़ का प्रजातंत्र' है। 'भीड़ का प्रजातंत्र' ये शब्द ही परस्पर-विरोधी हैं। भीड़ अपने चालक का विरोध नहीं कर

सकती। भीड़ का प्रजातंत्र प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; वह प्रातिनिधिक ही होगा। अतएव अधिक-से-अधिक सत्ता प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का कार्य जहाँ हो सके, वहाँ होनी चाहिए। अर्थात् ऐसे गाँवों के और नगरों के मुहल्लों के हाथों में होनी चाहिए, जहाँ लोग एक-दूसरे को पहचानते हों और भीड़ न हो।

गांधी ने संत-संस्कृति को भारतीय सभ्यता का हृदय माना था। वे उसके द्वारा भारत की चेतना जगाने का, भारत को उसका अपना उद्देश्य, लक्ष्य, मिशन समझाने का कार्य करना चाहते थे। वे रचनात्मक कार्यक्रम और सत्याग्रह के द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति कर रहे थे। यह काम पूरा होने के पहले ही विश्वयुद्ध के कारण भारत से ब्रिटेन को हटना पड़ा था। राष्ट्रीयता निर्माण होने के पूर्व हमें राज्य-सत्ता मिल गयी। गांधी जानते थे कि उनका काम पूरा नहीं हुआ है। अतः वे स्वराज्य मिलने के बाद उस समय के प्रश्नों को लेकर इस काम में जुट गये और भारत की आन्तरिक शक्ति जगाने लगे। उस समय देश के सामने शरणार्थी समस्या, हिन्दू-मुस्लिम कटुता, देश में शांति-स्थापना का कार्य, अपने वादे के मुताबिक पाकिस्तान को भारत द्वारा ५५ करोड़ रुपये देना, अनाज का कंट्रोल आदि तात्कालिक प्रश्न मुँह बाये खड़े थे, जिनसे गांधीजी जूझे। अपने आखिरी लेख में उन्होंने लिखा—'हमें जो मिली है, वह सिर्फ राजनीतिक आजादी है। देश के लाखों गाँव एवं ग्रामीण जनता की दृष्टि से सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है।'[५९] 'सन् १९३० की पूर्ण स्वराज्य की प्रतिज्ञा अभी पूरी नहीं हुई है, अत मतदाता को जगाओ',—यह आखिरी संदेश देकर वे चले गये।

देश ने गांधी को भुला दिया—देश का यह दुर्भाग्य था कि देश ने गांधी द्वारा दिये गये भारतीय सभ्यता के इस संदेश को भुला दिया। वह पश्चिमी औपचारिक लोकतंत्र के एवं आर्थिक विकास के केन्द्रित

पाश्चिमात्य आदर्श के चक्कर में पड़ गया। परिणामस्वरूप राज्य-सत्ता एवं अर्थ-सत्ता का अधिकाधिक केन्द्रीकरण होने लगा। दिल्ली में बैठे हुए २० लोगों से भारत का पुनरुत्थान नहीं होगा—ऐसी गांधीजी ने चेतावनी दी थी। केन्द्रीय मन्त्रिमंडल ने, जिनमें मंत्रियों की संख्या उस समय केवल २० थी, इस पर ध्यान नहीं दिया। देश के दो प्रतिशत अभिजात-वर्ग ने माना कि वे राज्य की एवं औद्योगीकरण की आधुनिक संकल्पनाओं से पुरातन राष्ट्र का कायाकल्प करेंगे। आज ३५ साल हो गये हैं। लोकतन्त्र का 'तंत्र' लोक पर हावी हो गया है और भारतीय जनता इस केन्द्रित तंत्र की गुलाम हो गयी है। इन दिनों लोक की शक्ति उत्तरोत्तर घटती गयी है। समाज-जीवन का कोई पक्ष अब ऐसा नहीं बचा है, जिसमें सरकार का प्रवेश न हो। नागरिक-जीवन का भयंकर रूप से सरकारीकरण हो गया है। दूसरी ओर सरकार के ऊपर नागरिक-शक्ति का कोई प्रभाव नहीं बन सका है। भारत अपने अतीत को भूल-कर नकलची हो गया है। मेकॉले की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई है। कोई भी राष्ट्र अपने अतीत के अनुभव से प्रेरणा पाये बिना और उसकी विकृतियाँ हटाकर संस्कृति सुधारे बिना ताजा नहीं हो सकता।

विश्वास का संकट—अतः इस विचार को लेकर जनता को जगाना होगा। दुर्भाग्य की बात यह है कि लोग आज की स्थिति से त्रस्त हैं, फिर भी यही सोचते हैं कि इसका भी उपाय सरकार करेगी यह सरकार नहीं, तो वह सरकार! जनता का खुद पर से विश्वास उठ गया है, यह सबसे बड़ी शोकान्तिका है आज का संकट विश्वास का संकट है। इसलिए जनता को समझना होगा कि यह काम हमें करना है। उसे सोचना चाहिए कि आज की परिस्थिति इसलिए पैदा हुई है कि सारी सत्ता सरकार के हाथ में केन्द्रित हो गयी है और हमने सारी सत्ता स्वयं केन्द्र के हाथ में सौंप दी है। इसे बदलने के लिए फिर उसी सत्ता की शरण लेना तो उसीके जाल को मजबूत बनाना है। जो

व्यक्ति या समूह अपनी बुनियादी आवश्यकताओं के लिए भी अपने प्रति-निधियों की ओर देखेगा--भले ही वे उसीके द्वारा चुने हुए क्यों न हों—वह हमेशा दुःखी रहेगा। **'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'** यह यहाँ के अनु-भवों का निचोड़ है।

आज चुनाव से प्रातिनिधिक सरकार बनती है। नागरिक की तमाम कमजोरियों का लाभ उठाकर खेला जानेवाला आज का चुनाव एक ऐसा खेल बन गया है, जिसमें साधारण नागरिक को कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी है, सिवा इसके कि पाँच वर्ष में एक बार भेड़ों की तरह भरकर वह मतदान-केन्द्रों में लाया जाता है। यद्यपि ऐसा औपचारिक लोकतंत्र ताना-शाही से कहीं अच्छा है, फिर भी इसकी मर्यादाएँ हैं, जो भारत में आ गयी हैं। यह लोकतंत्र लोक-शिक्षण द्वारा समाज को जगा नहीं सकता। आज के लोकतंत्र को अभिजात-वर्ग के लोग—जो भद्र-संस्कृति की उपज है—चलाते हैं। केवल २-४ प्रतिशत लोग ही इसमें हिस्सा लेते हैं। इस अभिजात-वर्ग की वेशभूषा पश्चिमी ढंग की है। वह मातृभाषा से भिन्न भाषा अंग्रेजी में बोलना प्रतिष्ठा का लक्षण मानता है। उसके खेल, रहन-सहन, जीवन का सब कुछ सामान्य जनता से भिन्न है। इसके सोचने के तरीके भी भिन्न हैं। यह वर्ग ९५ प्रतिशत जनता की अस्मिता को नहीं जगा सका, क्योंकि आज की व्यवस्था को बनाये रखने में उनका निहित स्वार्थ पैदा हो गया है।

मानसिक गुलामी से मुक्ति—अतः जनता को अपनी समस्याएँ समझ-कर खुद ही हल करनी होंगी। भला ५-१० प्रतिशत लोग कितने ही भले हों—यह वर्ग तो भला भी सिद्ध हुआ नहीं है, क्योंकि इनमें से बहुत सारे शोषक हैं—९५ प्रतिशत अपने से भिन्न जीवन जीनेवाले लोगों की बुद्धि एवं भावना को कैसे जगायेंगे ? और ६८ करोड़ लोगों की शक्ति जगे बिना उनकी उन्नति कैसे होगी ? लोग आज ऐसी भावना के गुलाम हो गये हैं कि दूसरा कोई हमारा भला करेगा। यह 'देइज्म'-'वह वाद' है, हमें

'वीइज्म'–'हम वाद' चाहिए। मानसिक गुलामी सबसे भयंकर गुलामी होती है। इसमें से मुक्त हुए बिना और अपनी समस्याओं से हम ही निबटेंगे, ऐसे आत्मप्रत्यय के जगे बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इसलिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, जिससे लोग अपनी समस्याओं को हल कर सकें। ●

१७. तब फिर हम क्या करें ?

सारी सत्ता जनता को—प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में क्या हम हाथ पर हाथ धरकर बैठ जायँ और बरबस खुद को गड्ढे में गिरते हुए देखते रहें ? या जहाँ से भूल हुई है, वहाँ से भूल का सुधार करें ? हमने देखा कि नागरिक गुलाम हो गया है। अतः पुनः उसे अपना सारा कारोबार अपने हाथों में लेना होगा। 'सुशासन' 'स्व-शासन' का पर्याय नहीं है। आज का केन्द्रित शासन तो सु-शासन भी नहीं है। हम सरकार से या आर्थिक सम्राटों से कोई सत्ता या खैरात नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि वे हमारी पीठ पर से उतर जायँ। हमारी पीठ पर आप सब बैठे हैं और हमें विकास करने को, दौड़ने का कहते हैं ? यह ठीक नहीं। अतः हमें अपने स्वराज्य की घोषणा करनी होगी और लोक-स्वराज्य चलाने के लिए संकल्पबद्ध होना होगा। हमारा एक ही नारा है—**'सारी सत्ता जनता को'**। लोग जहाँ रहते हैं, वहाँ अपने गाँव में या नगर के मुहल्ले में लोक-स्वराज्य यानी ग्राम-स्वराज्य एवं नगर-स्वराज्य कायम करें। केन्द्रीकरण के चक्रव्यूह में से स्वयं अपने अभिक्रम एवं संगठित पुरुषार्थ से ही हमें बाहर निकलना होगा। हमने गत २६ जनवरी १९३० को आजादी की प्रतिज्ञा ली थी और उसे स्वराज्य मिलने तक प्रतिवर्ष दोहराते जाते थे। स्वराज्य तो मिला, लेकिन पहले जो लंदन में था, वह

अब दिल्ली में आकर अटक गया है ! वह गाँव-गाँव आया ही नहीं। अतः हम अपने स्वराज्य का निर्माण करने में स्वयं जुट जायँ।

कार्यक्रम—तो हम क्या करें ? गाँव के सब बालिग स्त्री-पुरुषों की मिलकर ग्रामसभा बनायें। नगर हो तो नगर के मुहल्ले की मुहल्ला-सभा



संगठन के जरिये हम अपना भाग्य बदलेंगे।

गठित करें। लोकतन्त्र पर, आज की परिस्थिति पर चर्चा होकर, चेतना जागरण हो। जनता के कर्तव्य एवं अधिकार हम समझें। सभा में नागरिक लोक-स्वराज्य की प्रतिज्ञा लें। प्रतिज्ञा को अमल में लाने के लिए निम्न कार्यक्रम सोचे जा सकते हैं। ये कार्यक्रम दिशासूचक हैं। इनमें आवश्यकतानुसार घट-बढ़ हो सकती है।

१. गाँव के विकास की योजना बनाना—गाँव के साधनों को ध्यान में रखते हुए अपने गाँव की आवश्यकताओं के लिए गाँव चतुर्मुखी विकास

की योजना बनाये। जो दारिद्र्य-रेखा के नीचे हैं, उन्हें ऊपर उठाने को इस योजना में प्राथमिकता दी जाय। इस योजना के क्रियान्वयन के लिए लगनेवाले साधनों की दृष्टि से अपनी आय का निर्धारित अंश या निर्धारित रकम ग्रामसभा को दें। इससे गाँव का कोष बनेगा। इस कोष में से गरीबी मिटाने के एवं गाँव के कल्याण के काम हाथ में लिये जायेंगे। इस योजना का आर्थिक उद्देश्य यह रहेगा कि हर परिवार को पूरा रोजगार मिले और उसकी आय से न्यूनतम जीवन-मान वह जी सके। इस दृष्टि से जमीन के कानून अमल में न आये हों तो उन्हें अमल में लाने का प्रयत्न किया जाय। जमीन की पूर्ण क्षमता का उपयोग कर अधिकाधिक उत्पादन हो, जिससे कि गाँवों की भूख मिटे। इसके साथ-साथ किसान को अपनी फसल का लागत जितना दाम मिले और मजदूरों को वाजिब वेतन मिले, यह प्रयत्न किया जाय।

२. जमीन के साथ-साथ गाँव के उद्योगों को बढ़ावा देना होगा। अन्यथा पूर्ण रोजगार मुश्किल होगा। उद्योगों की दिशा स्वयं-रोजगार की होगी। उद्योगों का ग्रामीण आवश्यकताओं के साथ तालमेल बैठाना होगा। इसलिए अनाज-प्रशोधन, तेल, कपड़ा, साबुन, जूते, गुड-खांड़सारी जैसे ग्रामीण उद्योग खड़े करने होंगे। सुधरे हुए औजारों का इस्तेमाल करना होगा। लेकिन ऐसी दृष्टि रहे कि उसके साथ-साथ सबको काम मिले और औजारों को कम पूँजी लगे। गाँव में बने हुए माल का हम उपयोग करेंगे और इस प्रकार की नगर के कल-कारखानों में बनी हुई वस्तुओं का हम बहिष्कार करेंगे, ऐसा संकल्प ग्रामसभा को लेना होगा।

३. सामाजिक एकता हेतु जात-पाँत के बंधन समाप्त करना, छुआछूत मिटाना, दहेज आदि कुप्रथाएँ समाप्त करना इत्यादि काम करने होंगे। हिन्दुओं, मुसलमानों, बौद्धों आदि की आपस में सद्भावना एवं एकता बनी रहे, इस हेतु भिन्न-भिन्न धर्मों का ज्ञान सबको दिया जाय। धार्मिक और

सामाजिक त्योहार सब गाँववाले मिलकर मनायें। इससे राष्ट्रीय एकात्मता को भी बल मिलेगा।

४ आज देशभर में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। स्थान-स्थान पर तरह-तरह के अन्याय एवं शोषण चलते रहते हैं। अनेक सरकारी कर्मचारी ठीक से काम नहीं करते। घूस लेते हैं। व्यापारी सामान में मिलावट, मुनाफाखोरी आदि करते रहते हैं। अपने गाँव से इस शोषण एवं अन्याय को मिटाने हेतु ग्रामसभा लोक-प्रतिनिधि एवं सरकारी कर्मचारियों को संगठित रूप से निर्देश देना प्रारंभ करे। वे अपने कर्तव्य तत्परता के साथ करें, इसके लिए उन पर संगठित शक्ति से दबाव डालें। कोई अन्याय या भ्रष्टाचार हो तो उसके खिलाफ शांतिमय तरीके से संगठित रूप से ग्रामसभा आवाज उठाये।

५ इन सब बातों के साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर पर भी जागरण का प्रयत्न किया जाय। नागरिक हकों की रखवाली होनी चाहिए। प्रेस और न्यायपालिका की स्वतंत्रता कायम रहनी चाहिए। ये दोनों लोकतंत्र के स्तंभ हैं। आज गाँव में और नगरों में गुण्डागर्दी बढ़ रही है। राजनीतिक नेता, नौकरशाही, उद्योगपति, व्यापारी एवं गुण्डा—इनका गठबंधन सा हो गया है। इस बात को जनता को समझाना होगा। इसका प्रतिबिंब गाँव-गाँव के असामाजिक तत्त्वों के बलवान् होने में दिखाई पड़ता है। आज ये सब मिलकर सामान्य आदमी के विरुद्ध षड्यंत्र कर रहे हैं। अतः गुंडागर्दी के खिलाफ गाँवोंमे एवं नगरों के मुहल्लों में युवकों के सुरक्षा-दल स्थापित होने चाहिए। इससे जनता की हिम्मत बढ़ेगी और असामाजिक तत्त्वों पर अंकुश आयेगा। ऐसे ही ग्रामसभा प्रमुखों के क्षेत्रीय सम्मेलनों में लोक-प्रतिनिधि को बुलाकर उन्होंने जो काम किया है उसके बारे में प्रश्न पूछे जायँ एवं स्थानीय समस्याओं के निराकरण के लिए उन्हें निर्देश दिया जाय। इससे दोनों ओर चेतना बढ़ेगी।

नया नेतृत्व—इस प्रकार के कार्यक्रमों के चालू करने से देश में नया नेतृत्व पैदा होगा, जिसकी आज बड़ी आवश्यकता है। पुराना राजनीतिक नेतृव अपनी ही राजनीतिक चालों में गिरफ्त हो गया है। अब राजनीतिक दाँव-पेचों से काम नहीं चलेगा, क्योंकि आज का संकट निरा राजनीतिक संकट नहीं है। इसका स्वरूप सभ्यता के संकट का है, यह हम देख चुके हैं। अतः कालान्तर में आयी हुई विकृतियों को हटाकर भारतीय सभ्यता को अपने स्वरूप को निखारकर प्रकट करना होगा और लोगों की शक्ति जगानी होगी। आज के लोकतंत्र में और अर्थतंत्र में ९० प्रतिशत लोगों की शक्ति का कोई उपयोग नहीं है। अतः वह सुप्त हो गयी है। उपयोग न होने से हम भी उसे भूल गये हैं। अतः हम अपनी शक्ति को याद कर गाँव का कारोबार ग्रामसभा के मार्फत करें और इस आत्मशक्ति का उपयोग करें। यदि यह शक्ति जागृत हो जाय, संगठित हो जाय एवं सक्रिय हो जाय तो कोई भी विरोधी शक्ति उसके सामने टिक नहीं सकेगी। इस शक्ति का उपयोग कर हम सकारात्मक वैकल्पिक व्यवस्था का गाँव-गाँव में निर्माण करें और शोषण की व्यवस्था से अपना हाथ खींच लें यानी उसे सहयोग न दें। सामान्य जनता के सहयोग के या उदासीनता के कारण ही केन्द्रित राज्य-शक्ति एवं अर्थ-शक्ति कायम है, एवं शोषण और अन्याय चलते हैं। हम सहयोग न दें तो केन्द्रित राज्य-शक्ति एवं अर्थ-शक्ति स्वतः के भार से चरमराकर गिर पड़ेगी। इसलिए हमें स्वयं जागना होगा एवं समस्या को समझना होगा।

बहुतेरे गाँवों में एवं शहरों में सृजनशील एवं संवेदनशील नागरिक रहते हैं। इनकी संख्या भले ही कम हो, लेकिन ये छटपटाते रहते हैं। इनमें से कुछ आज हाथ-पैर पटककर एकाकी काम कर रहे हैं। परि-स्थिति का विश्लेषण कर वे खुद जाग रहे हैं और लोगों को जगा रहे हैं। ये समाज-सेवक लोगों की जिन्दगी के प्रश्नों को लेकर उन्हें सुलझाने का प्रयत्न एकाकी या संगठन बनाकर कर रहे हैं और कर सकते हैं। अनेक व्यक्ति आज अन्याय के खिलाफ शांतिपूर्ण तरीके से लड़ रहे हैं। इनसे कई

गुना नागरिक ऐसी लड़ाई के लिए तैयार हो सकते हैं। इन सबकी परस्पर जानकारी और आपस में परस्पर अनुबंध होना चाहिए। भारत माता बाँझ नहीं है। उसने संकटपूर्ण घड़ियों में आज तक ऐसे अनेक रत्न पैदा किये हैं, जिन्होंने हार न मानते हुए परिस्थितियों से लोहा लिया है। ऐसे लोग गाँव-गाँव में और नगरों में मिलते हैं, मिल सकते हैं। ऐसे नागरिक अपने-अपने काम-धंधे को करते हुए हर रोज एक घंटा समय इन कार्यक्रमों के लिए दें। 'एक घंटा देश को'—यह नारा फिर से बुलंद करना होगा। रचनात्मक काम एवं सत्याग्रह—इन दो पहियों पर यह नर-जागरण की, नैतिक पुनर्जागरण की गाड़ी चलेगी।

भारत माता आज अपने ६८ करोड़ पुत्र-पुत्रियों की ओर निहार रही है कि माता के मिशन को कौन समझेगा और पुत्र-पुत्री का कर्तव्य निभायेगा। बंकिमचंद्र ने 'वन्दे मातरम्' नाम के अपने अमर गीत में गाया था :

'त्रिशत्‌कोटि कण्ठकलकलनिनादकराले
के बोले, माँ तुमी अबले ?'

'तीस कोटि कण्ठों का निनाद है, ऐसी स्थिति में कौन कहता है, माँ तुम अबला हो !' उस जमाने के त्रिशत् यानी तीस कोटि कण्ठ आज अड़सठ कोटि हो गये हैं। उस समय भारत माता गुलाम थी। आज वह मुक्त है। लेकिन उसके बच्चे खुद के ही बुने हुए जाल में फँसकर गुलाम हो गये हैं। उन्हें अपने-आपको, स्वयं को मुक्त करना है।

इस मुक्ति के आन्दोलन में प्रबुद्ध-वर्ग की मदद अपेक्षित है। इस गीत की रचना के समय मुक्ति की लड़ाई के अस्त्र मालूम नहीं थे। तो फिर नये अस्त्रों से संग्राम करने के अनुभव का सवाल ही नहीं था। बीच के काल में रचनात्मक कार्य एवं सत्याग्रह, इन दो अस्त्रों का मुक्ति-संग्राम के लिए आविष्कार हुआ। इन अस्त्रों के चलते जिस पर सूर्य कभी डूबता

नहीं था, ऐसा ब्रिटिश साम्राज्य देखते-देखते समाप्त हो गया। आज सफलता का अनुभव हमारे पास है। सिर्फ उसे याद करके आत्मविश्वास जगाने की जरूरत है।

द्विविध क्रान्ति—यह परिवर्तन या क्रान्ति द्विविध होगी—एक तो स्वयं को बदलना होगा, और दूसरे, परिस्थिति को भी बदलना होगा। धर्म के द्वारा व्यक्ति को बदलने पर ऋषि-मुनियों ने जोर दिया है। मार्क्स ने परिस्थिति बदलने पर जोर दिया है। गांधी ने दोनों को जोड़कर व्यक्ति एवं सामाजिक परिस्थिति, दोनों को एक साथ बदलने पर जोर दिया है। यह परिवर्तन स्वयं से शुरू होगा और हमें इस महान् क्रान्ति का वाहक बनना होगा। हमें केवल आन्दोलन में ही नहीं, शुद्ध साधनों का भी अपने जीवन में आग्रह रखना होगा। वैसे ही, हमें अपने गाँव में बनी हुई वस्तुओं के उपयोग को यानी स्वदेशी का स्वीकार एवं बाहर से कल-कारखानों में बनीहुई वस्तुओं का बहिष्कार अपने जीवन से प्रारम्भ करना होगा। कायक्रमों पर अमल करते-करते धीरे-धीरे जनता की शक्ति जागेगी और वह ग्रामसभा, मुहल्ला-सभा में संगठित होने लगेगी। हम इस मुक्ति-आन्दोलन के सैनिक बनें। गांधीजी ने इस देश के आर्थिक-सामाजिक विकास का रास्ता विस्तार से बताया था। उन्होंने कहा था, "आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए ! हरएक गाँव में लोगों की अपनी हुकूमत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। हरएक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा होना होगा। अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियों पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाय या राजी-प्रसन्नता से दी हुई उनकी सहायता न ली जाय। ऐसा समाज अनगिनत गाँवों का बना हुआ होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक मीनार के ढंग पर नहीं होगा, जहाँ ऊपर की तंग चोटी नीचे की चौड़ी नींव पर खड़ी रहती है ! बल्कि समुद्र की लहरों की तरह घेरे की शकल में होगा। व्यक्ति उसका मध्य-

बिन्दु होगा। व्यक्ति भी सदैव अपने गाँव की खातिर मिटने को तैयार रहेगा। बाहर का घेरा या दायरा अपनी ताकत का उपयोग भीतरवालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उन सबको अपनी ताकत देगा और इनसे ताकत पायेगा। सब एक-दूसरे से ताकत पायेंगे।"[१०] ●

१८. जब लोग जागते हैं

कहा जा सकता है कि लोक-स्वराज्य की बातें तो सब ठीक हैं, लेकिन यह होगा कैसा? बड़े-बड़े जाने-माने व्यक्ति भी कुछ नहीं कर सके, तो हम गाँव के अशिक्षित, सामान्य मानव इतनी बड़ी विरोधी शक्तियों के सन्मुख कर ही क्या सकते हैं? राज्य-सत्ता एवं अर्थ-सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो, सत्ता लोगों के हाथों में आयें और केन्द्रीय शासन-शक्ति के बिना, बिना डंडे के, केवल धर्म से प्रजा कैसे चलेगी और शोषण से कैसे मुक्ति मिलेगी?

डंडे का राज्य पिछले ३५ साल से चल ही रहा है। व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि की प्रेरणा से पिछले तीन दशकों में सौ में ८०-९० लोगों का जायज स्वार्थ भी पूरा नहीं हुआ, यह भी हमने देखा है, भोगा है। इससे हिम्मत न हारते हुए कई स्थानों पर कुछ जागे हुए युवक, वृद्ध, महिलाएँ और गाँव के सब लोग परिस्थितियों से अकेले या सब मिलकर जूझ रहे हैं और कदम-दर-कदम आगे बढ़ रहे हैं। जनता जाग रही है। गाँव जाग रहे हैं। निश्चय ही अभी जागृति सम्पूर्ण नहीं हुई है। इसमें कुछ कमियाँ हैं। जागृत गाँवों की संख्या विशाल भारत की तुलना में कम है। लेकिन इतनी कम भी नहीं कि ये अपवाद हैं—ऐसा कहकर टाला जा सके। नीचे दिये गये कुछ उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि

देश में सम्पूर्ण परिवर्तन की, सम्पूर्ण क्रान्ति की पूरी सम्भावना है। पिछले कई वर्षों में ऐसे जो कई प्रसंग सामने आये एवं जो घटनाएँ भारतभर में घटी हैं, उनमें से कुछ को हम देखें—

एकाकी व्यक्ति—प्रारम्भ करें एकाकी व्यक्ति के प्रयत्न से। महाराष्ट्र के वर्धा जिले में पोथरा गाँव में पंढरीनाथ नाम के एक छोटे किसान रहते हैं। केवल चौथी कक्षा तक पढ़े हुए ये सज्जन हैं। गत वर्ष ओले गिरे और गाँव के करीब-करीब सभी मकान ध्वस्त हो गये। सरकार ने मदद के रूप में तहसीलदार के साथ ग्रामवासियों में बाँटने के लिए कुछ पैसे भेजे। तहसीलदार ने एक रात को गाँववालों को इकट्ठा कर रुपये बाँटे, लेकिन सबको २५-२५ रुपये कम देकर कुछ पैसे अपनी जेब में डाल लिये। ७० ग्रामवासियों में से ३० लोगों ने खिन्न होते हुए मजबूरी से कम रकमें चुपचाप ले लीं। पंढरीनाथ की भी रुपये लेने की बारी आयी। उन्होंने 'आप २५ रुपया कम क्यों दे रहे हैं', इसका कारण पूछते हुए कम रुपये लेने से इनकार कर दिया। अधिकारी की भौंहें तन गयीं। वह बुदबुदाया और पटवारी के पास जाकर मामला समझ लेने को कहा। उसी सभा में पटवारी के पास जाकर पंढरीनाथ ने कम रुपया लेने से सबके सामने साफ-साफ 'ना' कर दी! दो-तीन बार पटवारी की झिड़कियाँ खाने पर भी पंढरीनाथ डटे रहे, तब आखिर तंग आकर और सबके सामने झंझट न हो, इसलिए पंढरीनाथ की रकम में से २५ रुपये न काटते हुए उन्हें पूरी रकम दे दी गयी। लोग यह सब आँखें फाड़कर देख रहे थे। उनके लिए यह सब अद्‌भुत था। पंढरीनाथ के बाद जिनको रुपये दिये गये, उनसे फिर २५ रुपये काटना जारी रहा। काम समाप्त होने पर लोग घर गये और रातभर इस अनहोनी घटना पर सोचते रहे और काना-फूसी करते रहे। दूसरे दिन बड़े सबेरे सब लोग पंढरीनाथ के घर पर इकट्ठे हुए और उनसे उन्होंने निवेदन किया कि हमारे २५-२५ रुपये वापस दिलाने की तरकीब बताओ। पंढरीनाथ ने कहा कि हम कलेक्टर को

कल रात की घटना का निवेदन दें। निवेदन तैयार होकर सबके हस्ताक्षर होने की ही देर थी कि उतने में तहसीलदार को यह खबर लगी और उन्होंने सबके सब रुपये चुपचाप वापस लौटा दिये। अकेला सामान्य आदमी भी हिम्मत करे तो क्या हो सकता है, इसकी यह मिसाल है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

शराब के खिलाफ कार्यक्रम—अब सामूहिक प्रयत्नों के प्रसंग लीजिये। शराब से हम आरम्भ करें। महाराष्ट्र में भंडारा जिले में पालोरा गाँव की भोली-भाली अशिक्षित महिलाओं ने शराब पिये हुए अपने पुरुषों की मारपीट से तंग आकर एक सभा करके यह तय किया कि हम अपने-अपने पति को समझायें और शराब के मटके फोड़ डालें। उन्होंने ऐसा किया। इस अनहोनी घटना की खबर आग की तरह चारों ओर फैली। इर्द-गिर्द के तीस गाँवों की बहनों ने भी सभा की। इन बहनों ने भजन गाते-गाते इसका प्रसार करने के लिए सात दिन की पदयात्रा की। परिणामस्वरूप सब जगह शराब बनाने की हँड़ियाँ फोड़ डाली गयीं। गुण्डों ने इन्हें डराया, धमकाया। इनके खिलाफ कोर्ट में मुकदमे भी चल रहे हैं। लेकिन बहनें अडिग हैं। इस क्षेत्र की शराब की आदत बड़े पैमाने पर समाप्त हो गयी है, क्योंकि इस क्षेत्र में शराब का बनना बंद हो गया है।

सुदूर मणिपुर राज्य में इम्फाल में भी बहनों ने ऐसा पराक्रम करके बतलाया है। रात को ये रातरानियाँ यह जानने के लिए गश्त लगाती थीं कि कहाँ शराब बन रही है, कौन पी रहा है!

राजस्थान में झुनझुनू जिले के कासिमपुर के निवासियों ने ग्रामसभा बुलाकर सर्वसम्मति से अपने गाँव को शराब-मुक्त करने का संकल्प किया और इसका उल्लंघन करनेवाले पर जुर्माना, बहिष्कार आदि की योजना बनायी। यदि कोई शराब पी लेता है, तो उसके बच्चे या पत्नी गाँववालों को सूचना देते ही सारा गाँव मिलकर उसको कटघरे में खड़ा कर देते हैं। तब गाँव उस पर जुर्माना करता है।

कासिमपुरा ने यह भी निर्णय लिया है कि उनके गाँव का कोई मुकदमा थाने में एवं कचहरी में नहीं जायगा और गाँव में मृत्युभोज नहीं होगा।[६१]

घूस के विरुद्ध संघर्ष—बिहार के पश्चिम चंपारन जिले में वहाँ की लोकसमितियों ने इन्दुजी नाम के युवक के नेतृत्व में एक ब्लाक में १७ लाख रुपयों के घोटाले की जाँच के लिए ३ साल पहले शानदार जन-आन्दोलन किया। प्रखण्ड के ग्रामीणों ने इस आन्दोलन के दौरान प्रखंड कार्यालय पर धरना दिया। मुकदमे, लाठीमार, जेल, क्रमिक अनशन आदि से भी जब सरकार नहीं झुकी और लोग भी नहीं दबे तो दो नागरिकों ने आमरण अनशन प्रारंभ किया। तब बिहार सरकार ने इस मामले की तहकीकात का आश्वासन दिया, तब कहीं अनशन टूटा।

अन्य अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष—चम्पारन में ही चनपटिया की चीनी मिल के मजदूरों की ९ जायज माँगों को लेकर लोकसमिति के मातहत मजदूरों ने एक अनोखा सत्याग्रह शुरू किया। मजदूरों ने हड़ताल कर काम बंद नहीं किया। वे रोज मिल में काम पर जाते थे और अपनी माँगों को लेकर गाँव के खेतिहर मजदूर मिल के दरवाजे पर बैठकर क्रमिक उपवास करते थे। बाद में मिल का घेराव शुरू हुआ। आखिर मिल-मालिक झुके। ९ में से ७ माँगें मानी गयीं और बची हुई २ माँगों पर बातचीत करेंगे, ऐसा तय हुआ।

इसी बीच लोकसमिति के नागरिकों ने एक बड़े व्यापारी को नमक के साथ पत्थर पिसवाते हुए रँगे हाथ पकड़ लिया। व्यापारी गिरफ्तार हुआ। लेकिन थाने में जाने के बाद मामला रफा-दफा कर दिया गया। 'ऐसे थाने से क्या मतलब ?' ऐसी आवाज जनता में से उठी और एक निश्चित दिन एक बड़ा ताला लेकर लोग लौरिया थाने पर पहुँचे। थाने की बंदूकें तन गयीं। लोकसमिति के सैकड़ों सदस्यों ने और हजारों

नागरिकों ने अपनी कमीजें उतारकर अपने सिर पर बाँध लीं और गोली के सामने सीना खोल दिया। वे नारा लगाने लगे—**'सिर पर कफन बाँध लिया तो मौत से डरना क्या जाने ?'** नारों और गानों के बीच निहत्थे लोगों ने थाने पर ताला लगा दिया।

इसी जिले के रानीपुरवा गाँव के कुछ लोगों ने गरीबों की जमीन दबा ली थी और लोकसमिति के पर्चे पर बड़े लोगों ने हस्ताक्षर भी कर दिये, जिसमें घोषणा की थी कि मैंने जमीन का गैरकानूनी दखल नहीं किया है, किया हो तो स्वेच्छा से छोड़ दूंगा। अपनी सदाशयता दिखाने के लिए सबने परचे पर हस्ताक्षर कर दिये। फिर लोकसमिति ने आम सभा बुलाकर इस परचे पर किये हुए हस्ताक्षरों के आधार पर एक-एक का नाम लेकर, उसके गैरकानूनी भूमि की घोषणा को एवं उन्हें जमीन छोड़ने को कहा। इस बात की कलेक्टर को भी सूचना दे दी गयी। अभी यह संघर्ष जारी है।

महाराष्ट्र में थाना जिले में सरकार ने आदिवासियों को बरसों से जोती हुई जमीन से बेदखल करना प्रारंभ किया। **'हम अपनी जमीन नहीं छोड़ेंगे'** इस नारे के साथ सामूहिक सत्याग्रह शुरू हुआ, जिसमें सैकड़ों आदिवासी जेल गये। तब सरकार झुकी और सन् १९७२ से '७६ तक जिन्होंने खेती की, उन्हें जमीन पर से हटाया नहीं जायगा—यह बात सरकार ने मान ली।

महाराष्ट्र में धुलिया जिले में शहादा-क्षेत्र में गैरकानूनी कब्जेवाली दस हजार एकड़ जमीन, संघर्ष कर, साहूकारों से छुड़वाकर वहाँ की ग्रामस्वराज्य-समिति ने स्थानीय आदिवासियों को वापस दिलायी है। इसी प्रकार संघर्ष करके न्यूनतम मजदूरी कानून को गाँव-गाँव में लागू करवाया गया है और हजारों रुपयों की मजदूरी का अन्तर किसानों से मजदूरों को दिलवाया है।

किसान-नेता श्री शरद जोशी ने प्याज एवं गन्ने को उचित दाम मिले, इसके लिए पूना और नासिक जिले में आन्दोलन कर किसानों को सफलता दिलवायी है।

उत्तर प्रदेश में फैजाबाद जिले में श्री हौसलाप्रसाद त्रिपाठी ने गन्ने के उचित दामों के लिए किसान-आन्दोलन कर गन्ने के दाम बढ़ाने को मिल-मालिक को मजबूर किया।

उत्तर प्रदेश का 'चिपको आन्दोलन' दुनियाभर में मशहूर हो गया है। वहाँ के श्री चंद्रिकाप्रसाद भट्ट एवं श्री सुन्दरलाल बहुगुणा ने चमोली एवं टिहरी जिले में लोगों को–खासकर महिलाओं को–जगाया है। वहाँ के जंगलों के पेड़ बेतहाशा काटे जा रहे थे। ज्यों ही पेड़ काटनेवाले पहुँचते हैं, त्यों ही सारे गाँव के स्त्री-पुरुष पेड़ से चिपक जाते हैं। इस आन्दोलन के लिए अब वहाँ किसी नेता की जरूरत नहीं रही है। इस प्रकार के नये सत्याग्रह से लोगों ने गाँव-गाँव के जंगल की कटाई रुकवा दी है। हर गाँव में नया नेतृत्व उभरा है, जिनमें स्त्रियाँ काफी बड़ी संख्या में शामिल हैं। शराब की दूकानों पर पिकेटिंग कर इन्होंने शराब की दूकानों को बंद करवाया है।

पश्चिम बंगाल के बाँकुरा जिले मे सिमलापाल प्रखण्ड में संघर्ष कर खेतिहर मजदूरों की मजदूरी बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया गया। वैसे ही इस जिले में न्यूनतम मजदूरी दिलवाने के लिए सत्याग्रह कर कानूनी हक दिलवाया गया।

कर्नाटक में बेलगाँव की हिंडाल ॲल्युमिनियम फैक्टरी के खराब जहरीले पानी का तालाब फूट जाने के कारण चार-पाँच गाँवों की फसलें मारी गयीं। गाँववाले मुआवजे के लिए एवं जंगल में यह तालाब बने, खेतों के नजदीक नहीं, इस माँग को लेकर संघर्ष कर रहे हैं।

रचनात्मक कार्य—यह हुई अन्यायों के खिलाफ संघर्ष के प्रसंगों की कहानी। अब लीजिये, रचनात्मक कार्यों के प्रसंगों को।

बिहार में मुंगेर जिले में झाझा-क्षेत्र में प्रतिव्यक्ति एक रुपया इकट्ठा कर ३०० गाँवों में ७ लाख रुपयों का ग्रामकोष गाँव-गाँव में बनाया गया है, जिसके आधार पर बैंक से ऋण लेकर ग्रामविकास के कई कार्य किये जाते हैं।

उत्तर प्रदेश में 'चिपको आन्दोलन' ने न केवल पेड़ काटे जाने से रोक दिये हैं, बल्कि नंगे पहाड़ों पर पेड़ लगाकर वनीकरण भी किया है। उन्होंने भू-स्खलन एवं बाढ़ जैसी राष्ट्रीय समस्याओं को छुआ है और वनाधारित उद्योगों को बढ़ावा दिया है।

राजस्थान के बांसवाड़ा जिले में गांव के सब बालिग लोगों की ग्रामसभा का गठन कर अपनी जमीन, पानी और जंगल का प्रबन्ध ग्रामवासी खुद कर रहे हैं और लगान भी खुद ले रहे हैं। अक्सर मान लिया जाता है कि जनता आन्दोलन कर सकती है, लेकिन लोगों को अपने गाँव के प्रबन्ध का कानूनी हक मिल गया तो वे सब कुछ चौपट कर देंगे। ये आशंकाएँ झूठी हैं, यह बात यहाँ साबित हो गयी है। ये गाँव ग्रामदानी हैं इसलिए इन्हें अपना प्रबन्ध खुद करने का कानूनी अधिकार मिला हुआ है। पिछले चार वर्षों में से इस क्षेत्र में हर गाँव में सिंचाई के लिए छोटे-छोटे तालाब गाँववालों ने बनाये हैं, रास्ते बनाये हैं, अधूरे खुदे हुए कुएँ पूरे किये हैं। ग्रामसभा के पक्के भवन बने हैं, पाठशालाएँ खुल गयी हैं और शिक्षक वहाँ नियमित उपस्थित रहते हैं। गाँव की कुल जमीन का खाता ग्रामसभा के नाम से होने से पटवारी का दखल तो खतम ही हो गया है। शराबबंदी, झगड़ों को आपस में ही निबटाना, दहेज न लेना, मृत्युभोज बंद करने के संकल्प करके उस पर डटे रहना आदि काम किये जा रहे हैं।

जमीन के झगड़े समाप्त हो गये हैं। इन गाँवों की ग्रामसभाओं के अध्यक्ष बड़े उत्साह से बताते हैं कि जो काम पिछले ३० सालों से अटके पड़े थे, वे हमने इधर तीन-चार सालों में पूरे कर लिये हैं।

महाराष्ट्र में थाना जिले के विक्रमगढ़-क्षेत्र में बुधवार का दिन लोक-अदालत का दिन बन गया है। लोग इस दिन यहाँ आकर अपने-अपने झगड़े आपस में निबटाने लगे हैं।

मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में तवा नदी पर बने हुए बाँध के पानी की सिंचाई से जमीन दलदल बन गयी और फसल का उत्पादन गिरने लगा। अतः वहाँ के निवासियों ने 'मिट्टी बचाओ' अभियान चलाया है। चूंकि उन्हें सरकार के एक विशाल तकनीक से जूझना है, अतः हर कदम पर अपनी बात ठीक वैज्ञानिक आधार से कहने की उन्होंने कोशिश की है और बार-बार तज्ञों का सहयोग लिया जाता है। यहाँ खेतों को समतल करने के लिए सरकारी समिति ने ११०० रुपया एकड़ खर्च आँका था। सरकारी अधिकारियों ने २६०० रुपये तक लोगों से वसूल किया। अभियान ने ऐसे मामले जमा कर नहर-अधिकारियों के सम्मुख रखे। अब न्याय हो रहा है। अभियान के कारण पर्यावरण की समस्याओं की ओर सबका ध्यान गया है।

मध्यप्रदेश के पश्चिम निमाड़ के निवाली-क्षेत्र में बरसों से बहन कान्ता त्यागी लोक-अदालत का बढ़िया काम कर रही हैं। उस क्षेत्र का एक भी मुकदमा पुलिस के पास नहीं पहुँचता है। सबका निबटारा स्थानीय सहयोग से बहन कान्ता कर देती हैं।

उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर जिले में बनवासी सेवा-आश्रम ने पिकेटिंग द्वारा शराबबंदी एवं जंगल के अधिकारियों से ली हुई रिश्वत वापस दिलवाने की सफल कोशिश की है। यहाँ की ऊँची-नीची जमीन को पानी दिलवाने के लिए 'छोटी-बंधी योजना' का सफल आविष्कार किया गया है। इसमें ऊँची भूमि में चारों ओर का पानी बंधी बाँधकर रोका जाता है और यह रुका हुआ पानी नीचे के खेतों को दिया जाता है। ऐसी सैकड़ों बंधियाँ गाँववालों ने अपने अभिक्रम से पिछले ११ वर्षों में बनायी हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में **बारडोली में** उद्योग द्वारा शिक्षा का सफल प्रयोग श्री मोहनभाई परिख ने 'सुरुचि शिक्षण-वसाहत' में किया है। यहाँ की यंत्रशाला और छापाखाने में तीन माह से लेकर सालभर का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। इस शिक्षा के द्वारा विभिन्न विषयों की एवं जीवन में सुसंस्कार और सामाजिकता लाने की शिक्षा दी जा रही है। इस प्रकार अनौपचारिक शिक्षा का एक नमूना यहाँ खड़ा हो रहा है।

कन्याकुमारी में मछली पकड़नेवाली एवं अन्य छोटे-छोटे काम करनेवाली महिलाओं ने अपना संगठन बनाकर चेतना-जागरण एवं अन्याय-निवारण का काम शुरू किया है।

अहमदाबाद (गुजरात) में श्रीमती इला भट्ट द्वारा सड़क पर टोकनी रखकर सब्जी बेचनेवाली एवं ऐसे छोटे-छोटे काम करनेवाली महिलाओं को संगठित कर उनमें जागृति द्वारा उनकी आय बढ़ाना एवं उनमें आत्मविश्वास पैदा करने का व्यापक और उत्तम काम किया जा रहा है।

मुनाफे का वितरण—महाराष्ट्र में यवतमाल जिले में पुसद में पांढरी-पांडे कपड़े की दूकान चलाते हैं और उसका सारा मुनाफा प्रतिवर्ष ग्राहकों की वर्षभर की खरीदी के अनुपात में बाँट देते हैं।

हम क्या करें ?

ये महिलाएँ एवं सामान्य पुरुष, कभी एकाकी और कभी संगठन बनाकर, लोगों को जगा रहे हैं, देश का विकास कर रहे हैं और अन्यायों का शांतिपूर्वक मुकाबला कर रहे हैं। तो क्या हम सब अपने-अपने क्षेत्र में ऐसा नहीं कर सकते ? हम जहाँ भी रहते हैं, उस गाँव में या नगर के मुहल्ले में लोगों का संगठन बनाकर पुनर्जागरण का काम शुरू करें। भारत माता आज अपने सन्तानों की ओर आशाभरी दृष्टि से देख रही है। सारी दुनिया की ही यह परिस्थिति है। सभी जगह केन्द्रीय राज्यसत्ता और

अर्थसत्ता ने मिलकर सामान्य आदमी के खिलाफ षड्यंत्र रचा है। गत २४ जून १९८१ को दुनिया के ५३ नोबल-पारितोषिक विजेताओं ने जिनेवा, रोम, ब्रूसेल्स, बर्न, पेरिस, ओटावा तथा न्यूयार्क इन सात महानगरों से इसी तरह की अपील निकाली है। उन्होंने घोषणा की है कि आज की राजनीति तथा अर्थव्यवस्था करोड़ों की भुखमरी के लिए जिम्मेवार है। उनको रोटी का आश्वासन देने में यह व्यवस्था असमर्थ है। यह व्यवस्था करोड़ों आदमियों को कुचल रही है। इस व्यवस्था को बदलने में आनाकानी करने से सारी दुनिया के नष्ट होने की पूरी संभावना है। दुनिया के शक्तिशाली लोग हवा का रुख समझकर बदलें तो बहुत ही अच्छा; अन्यथा गांधी प्रणीत, शांतिमय आन्दोलनों का सहारा लेकर दुनिया के दुर्बलों को यह आत्मघात रोकना होगा। अगर दुनिया के असहाय लोग अपना भाग्य अपने हाथ में लेकर मानवीय मूल अधिकारों के कानूनों को छोड़कर अन्य सब कानून मानना अस्वीकार कर दें और कमजोरों का संगठन बनाकर गांधीजी के सत्याग्रह के रास्ते का वरण करें तो आज का यह संकट टल सकता है। हर व्यक्ति को प्रतिष्ठा के साथ जीने का मूलभूत अधिकार है। इस अधिकार को पाने के लिए जनसामान्य को एक होकर शांतिमय आन्दोलन का सहारा लेना होगा।[६२]

अभी भी देर नहीं हुई—कोई कहेगा कि ३५ साल स्वराज्य को हो गये, बहुत देर हो गयी है। नहीं, ऐसा नहीं। अभी भी बहुत देर नहीं हुई है, अन्यथा ऊपर बताये हुए काम सामान्य लोग नहीं कर सकते थे। इनमें से बहुतों के नाम न तो कभी अखबारों में आये थे, न आयेंगे। इजराइलवासी हिब्रू विश्वविद्यालय के इतिहास के प्राध्यापक टालमान से प्रश्न किया गया कि क्या आप इतिहास के अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि सदैव सत्य की विजय ही होती है? कुछ क्षण सोचकर उन्होंने कहा—"संगठित सत्य की विजय होती है। हाँ, संगठित असत्य की विजय संभव नहीं है।"

गांधी ने लोगों को सदियों की महान् निद्रा में से जगाया और संगठित किया। गांधीजी ने कहा है—"अभी भी काफी देर नहीं हुई है, जब कि मामले ठीक न किये जा सके, बशर्ते कि हम खुदगर्जी को त्याग दें और सेवा-भावना को अपना लें। भय को छोड़ दें। पाखंड का त्याग करें। सचाई को अपनाकर ईमानदार व नैतिक बनें।" यह कथन आज भी सही है।

●

परिशिष्ट : १

गोबर गैस संयंत्र और उर्वरक कारखाने

भारत सरकार ने अपनी योजना में २०९८ करोड रुपयों का प्रावधान १९ उर्वरक कारखानों के लिए किया है। इतनी राशि में देश में ५० लाख गोबर-गैस प्लांट लगाये जा सकते हैं। दोनों के तुलनात्मक आँकड़े इस प्रकार हैं—

	१० कारखानों का वार्षिक उत्पादन	५० लाख गोबर गैस का वार्षिक उत्पादन
१. नाइट्रोजन	११ लाख टन	६ ६ लाख टन
२. फॉस्फरस	३३ लाख टन	४.४ लाख टन
३. पोटॅश	—	४.३ लाख टन
४. कैल्शियम	—	४११.० लाख टन
५. ह्यूमस	—	४४० लाख टन
६. बायोगैस	—	२ करोड़ घन मीटर
७. सूक्ष्म तत्त्व	—	पर्याप्त मात्रा में
८. रोजगार	१०,००० व्यक्ति	१०,००,००० व्यक्ति

('शताब्दी संदेश' पाक्षिक–इन्दौर, १५-८-'८१ का अंक, पृष्ठ ८)

परिशिष्ट : २

जमीन की मालिकी प्रत्यक्ष मेहनत करनेवाले की न होने से और अन्य बरबादियों के कारण होनेवाली हानि का विवरण मजदूरी ६ रु० रोज

क्र०	हानि का कारण		सालभर की हानि रुपयों में
१.	२८३ मजदूरों ने अपनी खेती न होने से आधा काम किया, उस कारण २८३ × ३ रु० आधे दिन की मजदूरी × १५० दिन	=	१२७३५०
२.	१५७ पुरुषों की खेती अपनी हो जाने से २ महीने कृषि-सुधार में अधिक काम	=	४७१००
३.	२ महीने बेकार बैठने के ऐवज में ग्रामोद्योग ३१४ × ५ रुपया × ५० दिन	=	७८५००
४.	मजदूर वस्तुओं, जानवरों और फसल की जो बर-बादी होने देते हैं	=	१००००
५.	२५ मैनेजरों और मध्यम वर्ग की स्त्रियों के काम २५ × ४ रु० प्रतिदिन × ३०० दिन	=	३००००
६.	शहरों में ठीके और खेती के लाभ के रूप में जाने-वाली रकम	=	५०००
७.	५००००० रुपये की खरीदी बिक्री पर प्रतिशत १० व्यापारियों का नफा	=	५००००

क्र०	हानि का कारण		सालभर की हानि रुपयों में
८.	अदालतों में झगड़े ले जाने से होनेवाली हानि	=	२०००
९.	१००००० रुपयों के कर्ज पर सूद	=	२००००
१०.	१०९५ लोगों के मल-मूत्र का मूल्य २० रु० प्रतिव्यक्ति १०९५ × २० रु०	=	२१९०००
११.	२००० गाड़ियाँ अधिक कम्पोस्ट खाद × ३० रु० प्रति गाड़ी	=	६००००
१२.	७५ मरे पशुओं के चमड़े, मांस आदि से हानि प्रति पशु ४० रु०	=	३०००
१३.	विवाह-शादी में बाहर जानेवाला धन	=	५०००
१४.	व्यसनों से होनेवाली हानि—बीड़ी, शराब इत्यादि २५० परिवार × ८० रुपया	=	२००००
१५.	अनाज की सुरक्षा की ठीक व्यवस्था न होने से होनेवाली हानि ३,००,००० रु० के अनाज का ढाई प्रतिशत	=	७५००
	कुल	=	४,८७,३५०

❋

सन्दर्भ

१. दी न्यू इअर बुक : एकेडेमिक पब्लिशर्स, कलकत्ता पृष्ठ २५६

२. मो० क० गांधी : रचनात्मक कार्यक्रम (नवजीवन) पृष्ठ ४०

३. सुगत दासगुप्ता : 'दिनमान', १०—१६ अगस्त '८० पृष्ठ ३०

४. वही पृष्ठ ३१

५. चरणसिंह : इकॉनॉमिक नाइटमेअर ऑफ इण्डिया पृष्ठ १२६

६. जाफर तेह अली : दी सोशल कॉस्ट ऑफ पावर-प्रोजेक्ट्स 'इण्डियन एक्सप्रेस', १-१-'८१

७. चरणसिंह : इन्डियाज इकॉनॉमिक पॉलिसी पृष्ठ २९

८. 'इण्डिया'—१९७९ पब्लिकेशन्स डिवीजन पृष्ठ २०८

९. ड्युएट एण्ड वर्मा : इंडियन इकॉनॉमिक्स १९७८ पृष्ठ ७६

१०. आर० के० पाटेल : कमिटी लैंड रिफॉर्म पेनल : योजना-आयोग १९५५

११. चरणसिंह : इकॉनॉमिक नाइटमेअर ऑफ इण्डिया पृष्ठ १२०

१२. नेशनल कमीशन ऑन एग्रिकल्चर : खण्ड ७ पृष्ठ १

१३. वही पृष्ठ २

१४. देवेन्द्रकुमार : गोबर गैस की संभावनाएँ : 'गोग्रास' मासिक, सितम्बर १९८१

१५. इण्डिया : १९७९ पृष्ठ ३०१-३०२

१६. सिद्धराज ढड्ढा : गाँवों पर प्लास्टिक का हमला :
'ग्रामराज' साप्ताहिक, दि० १४-५-'८१

१७. सोमदत्त वेदालंकार : सर्वोदय प्रेस सर्विस दि० १४-५-'८१

१८. चरणसिंह : इण्डियाज इकॉनॉमिक पॉलिसी पृष्ठ ९६

१९. वही पृष्ठ ४७

२०. मनमोहन चौधरी : 'विजिल' साप्ताहिक, कलकत्ता, दि० १७-७-'७१
पृष्ठ ७

२१. एल० सी० जैन : 'विजिल' साप्ताहिक, दि० १-५-'८१ पृष्ठ ६

२२. मनमोहन चौधरी : 'विजिल' साप्ताहिक, दि० १-५-'८१ पृष्ठ ९

२३. जे० पी० नाइक : एज्युकेशन फॉर अवर पिपल
(मिनियोग्राफ्ड), पृष्ठ ३

२४. वही : पृष्ठ ४-५

२५. चरणसिंह : इकॉनॉमिक नाइटमेअर ऑफ इण्डिया पृष्ठ ३५५

२६. पार्क : टेक्स्ट बुक ऑफ प्रिव्हेन्टिव एण्ड
सोशल मेडिसीन १९७०, पृष्ठ ६४४

२७. डॉ० रागिणी प्रेम : आरोग्य के आधार पृष्ठ १६-१७

२८. डॉ० अभय बंग : हेल्थ सर्विसेस इन इण्डिया—
ऍन इन्ट्रास्पेक्शन (मिमियोग्राफ्ड), पृष्ठ २

२९. ए० आर० फडके : दी ड्रग इण्डस्ट्री—इन सर्च ऑफ
डायगनासिस : 'मेडिको फ्रेंड सर्कल'—१९७७, पृष्ठ ८४

३०. वही पृष्ठ ८२–८४

३१. डॉ० अभय बंग : हेल्थ सर्विसेस इन इण्डिया पृष्ठ ७

३२. डी बेनर्जी : प्रॉस्पेक्ट्स ऑफ कन्ट्रोलिंग पापुलेशन ग्रोथ इन
इण्डिया इकॉनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली : २०५७-२२६३

३३. ऍन एजेण्डा फॉर इण्डिया १९८० : मिमियोग्राफ्ड पृष्ठ ६५

३४. डॉ ए० के० एन० रेड्डी : इज इण्डियन सायन्स ट्रुली इण्डियन;
सायन्स टूडे, १९७४

३५. ऍन एजेण्डा फॉर इण्डिया १९८० पृष्ठ ६८

३६. डॉ० एम० जी बोकरे : तरुण भारत (मराठी दैनिक)
१८, १९, २० एवं २१ मई, १९८१

३७. डॉ० वैद्यनाथ मिश्रा : ॲग्रिकल्चरल डेव्हलपमेन्ट, इनकम डिस्ट्रीब्यूशन,
एण्ड सोशल चेन्ज इन इण्डिया : मिमियोग्राफ्ड पृष्ठ ५

३८. अजित राय : इकॉनामिक ऍण्ड पोलिटिकल वीकली १४-१०-'७८

३९. ठाकुरदास बंग : नगर-स्वराज्य पृष्ठ १५

४०. वीणा मजूमदार : स्टेस ऑफ वीमेन

४१. रजनी कोठारी : क्रिटिकल इश्यूज ऑफ दी स्टेटस ऑफ वीमेन
पृष्ठ ३ से ५

४२. हेमन्त : औरत पृष्ठ ५

४३. मो० क० गांधी हरिजन

४४. 'तरुण भारत' ११-८-'८१

४५. इमराना कादिर इन सर्च ऑफ डायगनॉसिस

४६. डचुएट एण्ड वर्मा, इंडिया इकॉनॉमिक १९७८ पृष्ठ ८४९, ८५०

४७. आर्थिक गोष्ठी, ७-८ मार्च १९८१, नयी दिल्ली पृष्ठ ५

४८. वही पृष्ठ ७

४९. 'तरुण भारत' दि० १०-८-'८१

५०. 'हरिजन' दि० २-२-'४८

५१. सिद्धराज ढड्ढा : 'ग्रामराज' साप्ताहिक दि० १४-५-'८१

५२. 'इंडियन एक्सप्रेस' दि० १८-४-'८१

५३. 'प्रताप' गुजराती दैनिक, अहमदाबाद दि० २३-७-'८१

५४. पंकज प्रसून : 'धर्मयुग' साप्ताहिक, दि० ३१-५-'८१ पृष्ठ ११

५५. 'दिनमान' दि० १०—१६ अगस्त '८१

५६. मो० क० गांधी यंग इण्डिया, दि० ११-८-'२७

५७. वही हरिजन, दि० २-२-'४८

५८. वही हरिजन सेवक, दि० २८-७-'४६

५९. 'ग्रामराज्य' दि० २१-६-'८१

६०. सर्वोदय प्रेस सर्विस : इन्दौर पत्रज्ञप्ति-२१, दि० ३०-७-'८१ की

इन्हें भी पढ़िये

शिक्षा-विचार	विनोबा	१०.००
शिक्षा में क्रान्ति	धीरेन्द्र मजूमदार	३.००
नयी बुनियाद की तालीम इतिवृत्त		८.००
ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्	सिद्धेश्वरप्रसाद	१२.००
ईशावास्योपनिषद् (विवेचन)	निर्मला देशपांडे	६.००
जीवन और अभय	शिवानन्द	८.००
जीवन और सुख	शिवानन्द	१०.००
संकेत और संकल्प	जगतराम भारद्वाज	४.००
जीवन-ज्योति	डॉ० शरणप्रसाद	४ ००
हुतात्मा	प्रभाकर शर्मा	६.००
गृह-वाटिका	दादाभाई नाइक	४.००
आत्म-चिन्तन	कूँचिए 'नवल'	३.००
सम्पूर्ण क्रान्ति	अमरेन्द्र भारती	३.००
Ishavasya Upanishad	Vinoba	1.00
Selections From Vinoba	V. Tandon	50.00
Philosophy of Total Revolution	Dada Dharmadhikari	10.00
By the side of Bapu	Shanti Tseng	10.00
To The Parents	M. Bhagwandin	3.00
Food for Health	Moolraj Anand	3.00